UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186516

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—24—4-4-69—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H049.9143 Accession No. P.G. H2910

Author KIA-

Title कला और [illegible] 196

This book should be returned on or before the date last marked below.

कला और साहित्य

[आकाशवाणी से प्रसारित बारह वार्ताओं का संग्रह]

Post Graduate Library
College of Arts & Commerce, O U

आकाशवाणी
प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय
भारत सरकार

भाद्र १८८४ (सितम्बर १९६२)

मूल्य : १.००

निदेशक, प्रकाशन विभाग, पुराना सचिवालय, दिल्ली-६, द्वारा प्रकाशित तथा प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद, द्वारा मुद्रित ।

भूमिका

कला और साहित्य के सम्बन्ध में बहुत-सी समस्याएं हैं और कई परस्पर भिन्न दृष्टिकोणों से उन पर विचार किया जाता है। कोई कला और साहित्य को केवल सौन्दर्य सृष्टि का ही माध्यम मानते हैं और सौन्दर्य से बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार नहीं करना चाहते, तो कोई केवल आत्म-तृप्ति के शब्दों में उसकी व्याख्या करना चाहते हैं। इसमें अभिजात और सामान्य, नीति और अनीति के प्रश्न भी उठाए जाते हैं। फिर यथार्थ और उपयोगिता का प्रश्न तो है ही। कुछ लोग वे हैं जो साहित्य सृजन तथा कला को केवल रक्त-मांस से या स्नायु से उद्भूत, सम्बन्धित या कम-से-कम प्रभावित तो मानते ही हैं। इन विचारों में कौन-सा पक्ष सही है और कौन-सा पक्ष कम सही है, इसका अन्तिम निर्णय न तो हुआ है और न होने की सम्भावना है। शायद सभी एक हद तक सही हों।

कुछ भी हो, प्रत्येक जागरुक पाठक को इन मतमतान्तरों के सम्बन्ध में ज्ञान रखना चाहिए और जानना चाहिए कि साहित्य और कला के क्षेत्र में कैसे-कैसे प्रश्न उठाए जा रहे हैं। आकाशवाणी की ओर से हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध साहित्यकारों के द्वारा कुछ वार्ताएं करवाई गई थीं जिनमें इन विषयों को अलग-अलग दृष्टिकोण से पेश करने का मौका दिया गया था। इन सारी वार्ताओं को एकत्र करके यह पुस्तक इस आशा से प्रकाशित की जा रही है कि जो लोग थोड़े में साहित्य और कला सम्बन्धी प्रश्नों को मोटे तौर पर समझना चाहते हैं उन्हें सुविधा हो। आशा है, इस पुस्तक के प्रकाशित होने से वह उद्देश्य सिद्ध होगा।

—मन्मथनाथ गुप्त

विषय-सूची

सौन्दर्य संवेग	बालकृष्ण राव	..	७
सुन्दर और असुन्दर	रामकुमार वर्मा	..	१२
शृंगार और अध्यात्म	सुमित्रानन्दन पन्त	..	१८
यथार्थ और कल्पना	रामनाथ सुमन	..	२३
स्वान्तः सुखाय	भगवतीचरण वर्मा	..	३०
अभिजात और सामान्य	रामविलास शर्मा	..	३६
नैतिक और अनैतिक	रामचन्द्र टण्डन	..	४०
अन्तःप्रेरणा और पलायन	धर्मवीर भारती	..	४५
यथार्थ और उपयोगिता	विश्वनाथ नर्वणे	..	५१
श्लील और अश्लील	डा० नामवर सिंह	..	५६
स्नायुष और उन्नयन	एन० के० देवराज	..	६१
वर्धमान और पतनशील	विजयदेव नारायण साही	..	६७

सौन्दर्य संवेग

बालकृष्ण राव

आज के युग में सौन्दर्य की बात चलाना कुछ अजीब-सा लगता है। सौन्दर्य का स्थान आज के मन्दिर में उपयोगिता ने ले लिया है। जो सबसे अधिक उपयोगी है, वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, सबसे अधिक मूल्यवान है। हमें आज का युग प्रेरणा देता है---शक्ति की और सामर्थ्य की उपासना करने की। सत्य यदि आज स्पृहणीय और आदरणीय है तो 'सत्यमेव जयते' के कारण, 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' के कारण नहीं। हमें आज कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक दूर पहुंचाने वाली गति चाहिए, कम-से-कम उद्योग करके अधिक-से-अधिक लाभ कराने वाला व्यवसाय चाहिए, कम-से-कम तपस्या करके अधिक-से-अधिक उपयोगी वरदान चाहिए। हमारे लिए वह सबसे अधिक वांछनीय है, जो सबसे अधिक समर्थ बना सके। हमें इसकी चिन्ता नहीं है कि कम-से-कम समय में जब हम अधिक-से-अधिक दूर पहुंचने में समर्थ हो जाएंगे तब हमें यात्रा से बचे हुए समय का किसी न किसी प्रकार उपयोग भी करना होगा। पहुंचने के बाद हमें क्या करना है, इसकी चिन्ता हमें तब तक नहीं होती जब तक हम अभीष्ट तक पहुंच नहीं जाते। उस समय तक हमारी एक ही चेष्टा, एक ही साधना, यह होती है कि हम अभीष्ट तक जल्दी-से-जल्दी पहुंच जाएं। गति को ही प्रणाली और गति को ही उद्देश्य समझ कर हम बढ़ने लगते हैं। हमारा वांछित लक्ष्य स्वयं ही कोई वास्तविक लक्ष्य न हो कर एक साधन मात्र है, यह हम नहीं देखते। शक्ति और सामर्थ्य स्वयं अपने आप में कुछ नहीं हैं, किसी अन्य अभीष्ट की प्राप्ति के उपाय, किसी अन्य लक्ष्य तक पहुंचाने के मार्ग मात्र हैं....यह हम या तो जानते नहीं, या जान कर भी इसे उपेक्षणीय

समझते हुए, मात्र शक्ति सम्पादन को अपना लक्ष्य बनाकर अधिकाधिक तीव्रता से आगे बढ़ने की चेष्टा करते रहते हैं। इस कमाने-खाने के युग में सौन्दर्य की सर्जना अथवा आराधना की बात चलाना सूर्यास्त के समय भैरवी छेड़ने-सा लगना स्वाभाविक ही है।

पर क्या इसका यह अर्थ हुआ कि सौन्दर्य संवेग का आज के मानव-मन में कोई स्थान ही नहीं है? यदि कला—सौन्दर्य की खोज, सौन्दर्य की परख और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है, तो क्या आज के युग में कला के लिए सारे मार्ग और सारे द्वार बन्द हो चुके हैं? या आज कला ने स्वयं उपयोगिता की और शक्ति की आराधना आरम्भ कर दी है? यदि सौन्दर्य के स्थान में उपयोगिता ही आज कला की प्रेरणा-शक्ति है और वही उसका चरम उद्देश्य बन गई है, तो क्या हमारा यह विश्वास कि सौन्दर्य और कला का सम्बन्ध अविच्छेद्य है, मात्र भ्रम था? या यह सत्य है कि सौन्दर्य की परिभाषा ही बदल गई है और आज के युग में सौन्दर्य और उपयोगिता अन्योन्याश्रित गुण हो गए हैं?

जो भी हो, यह बात निश्चय ही सत्य है कि बदलती हुई विचारधाराओं, बदलते हुए मूल्यों और बदलते हुए मानदण्डों के साथ-साथ कुछ ऐसी भी चीज़ें हैं जो, लगता है, न केवल अमर हैं, बल्कि अजर और अपरिवर्तनशील भी हैं। सौन्दर्य की पहचान भी शायद ऐसी ही एक अव्यय प्रेरणा और शक्ति है, जो मानव-मन में ज्यों-की-त्यों बनी रहती है और अनेक उथल-पुथल के बावजूद अब भी सजीव और सबल है। हमारे पूर्वज ऐसी बहुत-सी चीज़ों को सुन्दर मानते थे, जिन्हें आज हम कदापि सुन्दर मानने के लिए तैयार न होंगे, फिर भी एक बात इस रुचि-परिवर्तन में भी ज्यों-की-त्यों बनी है : वे भी सुन्दर को सुन्दर और ग्राह्य मानते थे, हम भी। दुर्लभ और महंगी चीज़ का तब भी आदर था, अब भी है। वह बिलकुल दूसरी बात है कि पहले क्या दुर्लभ और महंगा था और अब क्या है। दुर्लभ और महंगा होना ही बहुधा सुन्दर और वांछनीय बनाने के लिए पर्याप्त था। तेलुगु भाषा में 'प्यारी' और 'महंगी' दोनों के लिए एक ही शब्द है—प्रियम्।

कहने का अभिप्राय केवल यह है कि सौन्दर्य के अस्तित्व की ओर से हम उदासीन नहीं हुए हैं, न ही हमारी यह भावना हो गई है कि सुन्दर वस्तु की अब कोई आवश्यकता नहीं है। यदि हम उपयोगिता को निरी सुन्दरता से ऊंचा स्थान देते हैं, तो उसके पीछे सौन्दर्य के प्रति अनादर का भाव नहीं है, आदर के भाव के प्रति उपेक्षा है। हम चाहते हैं सुन्दर को ही, हमें अपेक्षा है उस वातावरण की, उस दुःख, दैन्य, अन्याय और विषमता से मुक्ति पाने की, जिसके द्वारा आक्रान्त रह कर

हम इस समय अपने को सौन्दर्य से इतना दूर पाते हैं कि उसकी खोज हमें व्यर्थ-सी जान पड़ने लगी है। जीवित जग में सौन्दर्य को अवतरित कराने की इच्छा, आकांक्षा, प्रेरणा सभी कुछ हमारे हृदय में उसी भांति विद्यमान है, जैसे चार-पांच सौ वर्ष पहले थी। अन्तर यह है कि हम अब यह मानते हैं कि सौन्दर्य की आराधना जीवित रहने की अवस्था की बाट जोहती है। हम आज आक्रांत हैं, विपन्न हैं, भूखे हैं, दैन्यग्रस्त हैं। हमारा विश्वास है कि जीवित रहने का अधिकार प्रत्येक जीवित व्यक्ति को सामान्य, सहज रूप से उपलब्ध है। हम यह देखते हैं कि वर्तमान व्यवस्था के अनुसार हम केवल थोड़े से लोगों को ही इस निश्चिन्तता से जीवित रहने का अधिकार दे सके हैं, जिस निश्चिन्तता के बिना जीवित रहने की क्रिया अपने आप में सौन्दर्योपासना की साधना को सन्निहित नहीं कर पाती। लेकिन हम सौन्दर्य की ओर से न उदासीन हैं, न हो सकते हैं। हम आज दूसरा ताजमहल नहीं बनवाते। हमारी शक्ति और हमारा धन भाखड़ा-नंगल और हीराकुड में लगता है। पर हम ताजमहल को सुरक्षित रखने में भी लगे हैं। आज के कमाऊ-खाऊ संसार में भी ताजमहल देखने के लिए अपार धन, शक्ति और समय व्यय करने वालों की संख्या बहुत बड़ी है। विदेशों से और विशेषत: पाश्चात्य देशों से ताजमहल देखने इतने यात्री पहले कभी न आए होंगे, जितने आजकल आ रहे हैं। और यह वही युग है जिसने उपयोगिता को सौन्दर्य से अधिक महत्त्व दिया है, पाश्चात्य देश वही देश हैं जिनके लिए, हम सभी जानते हैं, खाना और कमाना जीवित रहने के प्रधान उद्देश्य हैं। यही नहीं, बहुत से लोग तो यह भी कहेंगे कि इस युग की दृष्टि में जीवन इसलिए सुरक्षित रखने योग्य है, क्योंकि जीवित रहने पर ही खाना और कमाना सम्भव है। फिर यह सजीव और सक्रिय सौन्दर्योपासना कैसी ?

हमें इस परिणाम पर पहुंचना पड़ता है कि कला के क्षेत्र में हम जिस अभिव्यक्ति की चेष्टा करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं, उसमें अनेक अन्तर होते हुए भी कोई सादृश्य, कोई साम्य अवश्य है। ऐसी कोई चीज़ आवश्यक है जो होमर के काव्य में, शेक्सपियर के नाटकों में, ताजमहल के शिल्प में, अजन्ता की चित्रकारी में, वीणा की झंकार में, शरद की पूर्णिमा में समान रूप से विद्यमान है। हम इन सब को सुन्दर मानते हैं। हिमालय के हिमाच्छादित शिखरों में ऐसी चीज़ है जो हमें सागर की उत्ताल तरंगों में भी मिलती है और वसन्त के कोकिल स्वर में भी, क्योंकि वह एक समान रूप से सभी से, सभी में मिलने वाला सौन्दर्य निरन्तर बदलती हुई जनरुचि में अपनी शक्ति खो नहीं देता है, वह अव्यय है, शाश्वत है। उसे हम न केवल प्रत्येक युग में, बल्कि प्रत्येक परिधान में पाते और पहचानते

जाते हैं। शेक्सपियर के नाटकों में और अजन्ता की चित्रकारी में हर प्रकार की विभिन्नता है। केवल समय और देश का ही अन्तर नहीं, दोनों के आकार में, दोनों के अभिव्यंजना माध्यम में अन्तर है। फिर भी हम दोनों में ही सौन्दर्य देख और पहचान सकत हैं। सौन्दर्य का अवतरण दोनों ही भूमियों पर सहज-सामान्य रूप से होता है। तो क्या सौन्दर्य दृश्य वस्तु में नहीं, देखने वाली दृष्टि में रहता है? क्या वह मानव दृष्टि की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह किसी विशिष्ट वस्तु में ऐसा कुछ देख ले, जिससे उसे असाधारण दर्शन-सुख मिले और जिसे वह सौन्दर्य का नाम दे सके? हमारे निर्धन और निरक्षर ग्रामीण भाई बहुधा ऐसे वातावरण और ऐसी परिस्थितियों में अपना सारा जीवन बिता देते हैं, जिनमें उन्हें ऐसी किसी चीज़ को देखने अथवा आस्वादित करने का अवसर नहीं मिलता जिसे अभिजात वर्ग के सदस्य 'सुन्दर' मान सकें। तो क्या यह मानना ठीक होगा कि वे अपना सारा जीवन सुन्दर वस्तु के दर्शन अथवा सुन्दर भावना और अनुभूति को जाने बिना ही बिता देते हैं? स्पष्ट है कि यह मानना भूल होगी। प्रत्येक जाति, प्रत्येक वर्ग, यहां तक कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए कहीं न कहीं, किसी न किसी आकार में सौन्दर्य को देख ही लेता है, उसका आस्वादन कर ही लेता है। हब्शी देश की मां भी अपने काले-कलूटे बच्चे में वह सौन्दर्य देख लेती है, जो सुन्दर जातियों में माताएं अपने बच्चों में देखती हैं। अत्यन्त रूपवती गौरांग रमणी के सौन्दर्य में और काली-कलूटी जंगली युवती के अनलंकृत और अपरिष्कृत रूप में सारे अन्तरों के होते हुए भी एक साम्य है और वह है सौन्दर्य का, उसकी दृष्टि के लिए जो उसे देख और पहचान सके। सौन्दर्य अस्थि और मांस-पेशियों की तरह कोई ठोस वस्तु नहीं है, जिसके अस्तित्व का बोध ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से हो सके, पर वह केवल कल्पना संभूत और कल्पना आश्रित भी नहीं है, जैसा ट्राय के युद्ध की भयानक सत्यता प्रमाणित कर चुकी है। अनेक दृष्टियों में एक ही वस्तु सुन्दर हो सकती है, विभिन्न युगों में एक ही वस्तु को समान रूप से सुन्दर माना जा सकता है। साथ ही यह भी सम्भव है कि एक वर्ग अथवा एक युग की दृष्टि में जो सुन्दर हो, वह दूसरे वर्ग अथवा युग को नितान्त असुन्दर लगे।

कला के क्षेत्र में भी यह बात उतनी ही सत्य है, जितनी अन्य क्षेत्रों में। रीति काल की कविता हमें आज अच्छी नहीं लगती, यदि लगती है तो रीतिकालीन होने के कारण नहीं, उसके बावजूद। पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पहले सभी उस पर जान देते थे। नासिख और आतिश की गज़ल आज कौन पढ़ता है? पर अपने समय में उनकी लोकप्रियता का क्या पूछना था? परिवर्तनशीला जनरुचि उनकी लोक-

प्रियता को जीवित न रख सकी, क्योंकि उनकी तत्कालीन लोकप्रियता सौन्दर्य की खोज और उसके सृजन से अधिक अपने समय की अभिरुचि का ध्यान करने लगी थी। नहीं तो क्या घनानन्द और रसखान के सवैये आज कुछ कम जनप्रिय हैं? उनकी सर्वप्रियता में कमी इस कारण नहीं आई कि उन्होंने समकालीन जन-रुचि के आवरण को बेधकर उस शाश्वत, सत्य सौन्दर्य को देखा और अपना बनाया, जो वास्तव में कला का उपासक भी है और उसकी उपासना-विधि भी। बहुधा बड़े कलाकार भी अपने समय में लोकप्रिय नहीं हो पाते, परवर्ती युगों ने उनकी कृतियों को पहचाना और उन्हें अर्हित आसन पर प्रतिष्ठित किया। इस सम्बन्ध में कीट्स का नाम सभी को स्मरण आएगा। भवभूति को समकालीन पण्डितों की कटु आलोचना से घबरा कर कहना पड़ा था—

ये नाम केचिदिह तः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि, तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

काल निरवधि है, पृथ्वी विपुला है और सौन्दर्य संवेग कला की साधना है, उसका प्रथम आयाम है। कला और सौन्दर्य समान रूप से असाधारण हैं। आज का युग उन्हें अलौकिक नहीं मानता, पर असामान्य तो मानता ही है। यही असामान्यता सौन्दर्य है, और उसका साधारणीकरण कला है।

सुन्दर और असुन्दर

रामकुमार वर्मा

समय के अनन्त प्रवाह में जीवन ने बहुत कुछ देखा और सुना है। शैशव से लेकर वृद्धावस्था तक यह मनुष्य अपनी स्मृति में अनेकानेक चित्र सजाता आया है और जिन चित्रों से उसे मोह है, उनमें उसने अपनी कल्पना की तूलिका से गहरे रंग भर लिए हैं। जब यह कल्पना अनुभूति के समानान्तर चलती है तब वह स्वस्थ होकर जीवन को राग-रंजित करती है और जब उसके प्रतिकूल चलती है, तो वह स्वप्नों का रूप धारण करती है। इस भांति अनुभूति और स्वस्थ कल्पना जीवन को व्यापक और विस्तृत बनाने में सदैव प्रयत्नशील रही हैं।

जीवन की गति अनेक अनुभूतियों की चित्रशाला रही है। ये अनुभूतियां लहरों की भांति आती और चली जाती हैं। किन्तु जो लहर सूर्य और चन्द्र की किरण पा जाती है, वह उषा या ज्योत्स्ना की सुहासिनी बनकर जल में विहार करती है और उसके सुनहले या रुपहले दुकूलों में सरिता की समाप्तप्राय स्मृति की भांति लीन हो जाती है। इसी प्रकार जब कोई अनुभूति जीवन की किसी मधुर स्मृति से जुड़ जाती है और किसी की मुस्कान की उषा या आंसू की ज्योत्स्ना उस पर पड़ जाती है, तो वह अनुभूति ही कला बन जाती है और यही कला जीवन में राग की सृष्टि करती हुई चिरस्मरणीय बन जाती है।

चाहे उपनिषद् हो, चाहे वेदान्त, चाहे 'ललित विस्तार' हो, चाहे शुक्रनीति अथवा वात्स्यायन का कामसूत्र ही क्यों न हो, कला की पहचान जीवन की ऐसी तरंग है जिसने मानवता की उज्ज्वल सतह पर सौन्दर्य का इतिहास अंकित कर

दिया है। चैतन्य पर माया का जो आवरण है उसमें कला की ज्योति सबसे प्रखर है। यह आवरण चैतन्य को धूमिल नहीं करता वरन् चैतन्य को जड़ पर प्रसारित कर आत्म-सन्तोष की भूमिका प्रस्तुत करता है।

इस भांति कला जीवन की संचित स्मृति है, जिसने अनेक साधनों से हमें सत्य की झांकी दिखलाई है। वह साधन चाहे आकाश का वरदान शब्द या नाद हो, चाहे जल का वरदान तरल रंग हो, चाहे पृथ्वी का वरदान पाषाण हो। यह सत्य जब विशृंखलता की झाड़ियों के बीच से फूल की भांति विकसित हो उठता है तब उसे कला का कमनीय कलेवर मिलता है। पाशवी वृत्तियों की हिंसा-भरी भूख जब तृप्त हो जाती है तब सन्तोष के आसन पर जो सत्ता है, वही तो कला है। आवश्यकता की ऊंचाई को पार कर जब हम भावना की चोटी पर पहुंचते हैं तब हमारे सामने जीवन का जो दृश्य झूल जाता है, उसमें सौन्दर्य का स्वर्ग निवास करता है।

पूर्व और पश्चिम दोनों की ही दृष्टियों ने 'कला' को पहले विशेष कौशल से समुत्पन्न कार्य के रूप में ही देखा, उसका स्वाभाविक जीवन के अभिव्यक्ति-करण से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। शुक्रनीति की चौंसठ और प्रबन्धकोष की बहत्तर कलाएं, कश्मीरी पंडित क्षेमेन्द्र की दो सौ आठ प्रमुख कलाएं तथा भर्तृ हरि के प्रसिद्ध श्लोक 'साहित्य संगीत कला विहीनः' में कला की विशिष्ट स्थिति इस बात का संकेत करती है कि कला अपने आप में जीवन की प्रयत्नसाध्य कुशल अभिव्यक्ति ही रही। इसी प्रकार प्राचीन लेटिन में 'आर्स' का अर्थ ही कारीगरी है। बाद में उसका अर्थ शास्त्र हो गया जैसे व्याकरण या ज्योतिष। सत्रहवीं शताब्दी में जब सौन्दर्य भावना और सौन्दर्य रहस्य का विकास हुआ तब कला पर से शास्त्र का आवरण हटता हुआ दिखलाई पड़ा। अठारहवीं शताब्दी ने 'कला' की विशिष्टता स्थापित की और उन्नीसवीं शताब्दी में 'कला कला के लिए' सिद्धान्त प्रचारित हुआ, जब 'उपयोगी कला' और 'ललित कला' के बीच एक विभाजक रेखा खींची गई। इस भांति कला का सम्बन्ध क्रमशः सौन्दर्य भावना के समीप आता गया और वह धीरे-धीरे एकमात्र ललित भाव मूलक ही निर्धारित हुआ। कला के विकास में जब से 'उपयोग' की भावना का आधिपत्य हुआ है, तभी से कला की सौन्दर्य भावना ने विद्रोह किया है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध म जब व्यवसाय के लिए कला का प्रयोग होने लगा तथा 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त वायुमण्डल में गूंजा और यह समझा गया कि कला का अस्तित्व केवल अपने लिए ही है। मानव की रागात्मक भावना के परितोष के अतिरिक्त उसका

दूसरा ध्येय ही नहीं है। इसी दृष्टिकोण को अपने समक्ष रखते हुए यह स्पष्ट किया जा सकता है कि कला के कक्ष में क्या सुन्दर है और क्या असुन्दर है।

जहां तक सुन्दरता का सम्बन्ध है, वह कला के लिए अनिवार्य है। रस में स्थायी भाव की तरह, वह कला में आदि से अन्त तक विद्यमान है। यह सुन्दरता दो प्रकार की है, बाह्य और अंतरंग। यों तो सुन्दरता का सम्बन्ध एकमात्र मनुष्य की रागात्मक प्रवृत्ति से है ····जिसमें उसकी मानसिक प्रक्रिया सुख और सन्तोष के सम्मिलित भाव-बिन्दु पर जाकर समाप्त होती है। बाह्य परिस्थितियां इन्द्रियों को स्पर्श करती हैं और इन्द्रियां जैसे एक नवीन आलोक से जगमगा उठती हैं। यह जगमगाहट यदि इन्द्रियों तक ही सीमित रह गई और उसका प्रतिफलन यदि मन की मादकता में ही रह गया तो यह कला बाह्य सौन्दर्य में सीमित सामान्य कोटि की ही समझी जाएगी। यदि बाह्य परिस्थितियों से उत्पन्न मानसिक प्रक्रिया इन्द्रियों को पार कर मनुष्य के अन्तःकरण को भी जगमगा सकी और उसकी समस्त भावनाएं परिस्थितियों की परिधि से उठ कर किसी दिव्य आनन्द में लीन हो सकीं तो वह उत्कृष्ट कोटि की कलात्मक अनुभूति होगी जो भीतरी सौन्दर्य से उत्पन्न है, चाहे यह कला काव्य में हो या संगीत में, चित्र में हो या मूर्ति में।

सौन्दर्य के आश्रय से कला जीवन का मूल्यांकन करने में समर्थ होती है। दूसरी ओर जीवन भी नए-नए मानदण्डों को लेकर कला की कोटियां निर्धारित करता है। इस भांति जीवन और कला का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, लेकिन शर्त यही है कि न तो जीवन अस्वाभाविक हो सके और न कला में ही कृत्रिमता का कुत्सित कीट प्रवेश कर सके। कला अपनी प्रगति में सबसे पहला कार्य यही करती है कि वह जीवन की किसी अनुभूति को ग्रहण करती है····यह अनुभूति सदैव किसी संवेदना से अनुप्राणित होती है। इस दिव्य क्षण को वह सौन्दर्य के सांचे में ढाल लेती है। इसके अनन्तर वह उसे अन्य अप्रधान और अनावश्यक परिस्थितियों से अलग करती है और उस एकान्त अनुभूति को शब्द से, नाद से, रंग से या टांकी से काव्य, संगीत, चित्र या मूर्ति में घनीभूत कर देती है। तब वह अनुभूति इस प्रकार खिल उठती है जैसे किसी वृन्त पर फूल, जिसकी मोहकता प्राणों में भी प्रवेश कर जाती है। स्वाभाविकता और सौन्दर्य के पार्श्व में सजी हुई यह कृति कला की अभिव्यक्ति कहलाती है। इस भांति सौन्दर्यमयी अनुभूति की पहचान, उसकी स्पष्टता और उसकी घनीभूत व्यंजना कला के निर्माण की प्रक्रियाएं हैं।

दूसरी ओर जीवन अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए कला को ही अपना माध्यम बनाना चाहता है। उपयोगितावाद के लिए जीवन अन्य माध्यम खोजने लगा है। अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र इस उपयोगितावाद की प्रेरणा से ही समृद्ध हुए हैं। जीवन अपनी ललित अनुभूतियों के लिए कला को ही उचित कसौटी समझने लगा है। सभ्यता के बदलते हुए रुचि-वैचित्र्य ने काव्य के लिए नई छन्दोबद्धता, जो केवल नाद पर ही आधारित है, अथवा छन्दों से पूर्ण मुक्ति स्वीकार की है। भावना के सौन्दर्य की ही एकान्त अभिव्यक्ति काव्य की संज्ञा बन रही है। यही दृष्टि चित्र की रेखाओं और रंगों में भी आने लगी है जहां विश्वकवि रवीन्द्र के चित्र अपनी नई कला-कोटि निर्धारित करते हैं। संगीत के स्वर लोकगीतों की सहज प्रगति में मुखरित होने लगे हैं और ग्रामों से निकल कर चित्रपट के माध्यम से हमारे सामने आने लगे हैं। यह आवश्यक है कि इनमें संशोधन और परिवर्तन होगा तथा ये सौन्दर्य की नवीन अनुभूतियों को ले कर जीवन की गहराइयों में प्रवेश करेंगे। लेकिन यह सत्य है कि कला का विकास नित्य नई मान्यताओं से होगा और उसकी प्रगति इसी सत्य की सूचना देने जा रही है कि जीवन अधिक-से-अधिक मात्रा में निर्द्वन्द्व, स्वाभाविक, सहज और प्रगतिशील हो और जो परम्पराएं अपना महत्त्व खो बैठी हैं उन्हें कला के क्षेत्र से निर्वासित कर दिया जाए।

इसी निर्वासन में कला के अन्तर्गत असुन्दर की बात आती है। सामान्य रूप से यह असुन्दर तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। पहली कोटि तो तब मानी जानी चाहिए जब सौन्दर्य अपना अनुपात खो देता है। ऐसी स्थिति में वह सौन्दर्य परिहासोन्मुख हो जाता है। कोई स्त्री यदि अपने एक ही नेत्र में अंजन आंजे या कुंकुम बिन्दु मस्तक पर भौंहों के साथ में न लगाकर नाक की नोंक पर लगा दे तो सौन्दर्य विकृति का पर्याय बन जाएगा। इसी प्रकार कवि केशव की 'रामचन्द्रिका' में अलंकारों की इतनी अधिकता है कि कविता का सहज रूप विकृत हो गया है। पद-पद पर छन्दों में परिवर्तन और एक ही पंक्ति में तीन या चार अलंकार, काव्य की सहज आनन्दानुभूति में बाधा उपस्थित करते हैं। काव्य में अलंकार एक पर दूसरे ऐसे लदे हुए हैं जैसे कोई महाशय सितम्बर के महीने में ही बनियान, कमीज़, पुलोवर, कोट तथा चैस्टर पहने हैं और उसके ऊपर उन्होंने कम्बल भी ओढ़ रखा है।

असुन्दर की दूसरी कोटि वह है जब सौन्दर्य का उद्गम अनुराग से न होकर ईर्ष्या अथवा द्वेष से हो। यह समाचार प्रायः पढ़ने को मिलता है कि अमुक ईर्ष्यालु व्यक्ति ने अपनी सुन्दर स्त्री की हत्या कर दी। जीवन की सहज

अनुभूति इससे अधिक क्या विकृत होगी ? जिस कविता में हम साम्प्रदायिकता के आवेश में आ कर ईर्ष्या या द्वेष से किसी की निन्दा करते हैं, क्या उसे हम 'कला' की संज्ञा दे सकते हैं ? प्रतिहिंसा से पूर्ण कला, कला नहीं है। वह आंधी की तरह उठती है और अपने साथ कंकड़, पत्थर या सूखे पत्ते ही बटोर सकती है। विश्व-मैत्री या विश्व-बन्धुत्व ही कला का लक्षण है। तभी तो क्रौंच मिथुन में से एक क्रौंच के वध पर आदि कवि के नेत्रों में जो अश्रु उमड़े थे, उसी में आदि कला का प्रतिबिम्ब था।

असुन्दर की तीसरी कोटि वह है जब कला में वस्तुवाद इतना प्रखर हो जाता है कि वह वस्तुओं में निहित सौन्दर्य या रहस्य को समाप्त ही कर देता है। हमारी भूख जब उभरती है तो हम सेब पर उभरती हुई उषा की अरुणिमा और सिन्दूरी रंग की उलझ कर सुलझती हुई रेखाओं की शोभा नहीं देखते, उसे काट कर हज़म कर जाते हैं। उस समय हम में और वनमानुष में कोई अन्तर नहीं होता। इस बात को सम्भवतः कृष्ण के विरह में व्याकुल गोपियों ने सबसे अधिक समझा था, जब उद्धव महाशय उन्हें ज्ञान और वैराग्य का उपदेश देने के लिए गोकुल गए थे। उद्धव गोपियों के प्राणों में बसे हुए प्रेम को मोह समझ बैठे। वह गोपियों के प्रेम की गहराई और उसका रहस्य नहीं समझ सके। तभी तो गोपियों ने उनसे कहा—

हरि हमते कबहूं न उदास।
तुम सों प्रेम कथा को कहिबो मनहुं काटिबो घास॥

जीवन के अन्तर्द्रष्टा सूरदास ने इस असुन्दर परिस्थिति में भी सुन्दरता की सृष्टि कर दी है।

इस प्रकार सौन्दर्य की विकृति, विश्व-मैत्री का अभाव एवं परिस्थितिजन्य व्यंजना के प्रति उपेक्षा यही कला में 'असुन्दर' की सृष्टि करती है। सुन्दर और असुन्दर इन दोनों पक्षों के मध्य में भी एक स्थिति ऐसी हो सकती है जिसमें सुन्दर और असुन्दर अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हुए भी परस्पर बल ग्रहण करते हैं। ऐसी एक स्थिति महाकवि तुलसी के रामचरित मानस में है, जहां अरण्यकाण्ड में रावण के मनोभावों का चित्रण हुआ है। सीता-हरण करते समय जब सीता ने रावण की निन्दा की तो उस स्थिति में रावण का चित्र उपस्थित करते हुए तुलसी ने लिखा—

सुनत वचन दस सीस रिसाना।
मन महुं चरन वंदि सुख माना॥

इधर सीता से भर्त्सना सुन कर रावण क्रुद्ध भी हुआ और उसने सीता के चरणों की वन्दना भी की । ये दो विरोधी भाव एक साथ हुए। इसका कारण यह था कि रावण यह निश्चय पहले ही कर चुका था कि--

सुर रंजन भंजन महि भारा ।
जौं भगवन्त लीन्ह अवतारा ।।
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊं ।
प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊं ।।

रावण के ऊपरी व्यवहार में सीता 'सुमुखि' और 'सयानी' मात्र थीं पर हृदय में वह जगन्माता थीं । रावण के समस्त चरित्र-चित्रण में इन दोनों विचारधाराओं का निर्वाह समान रूप से हुआ है। असुन्दर और सुन्दर दोनों ही एक पात्र में स्थित है और रावण के इस दोहरे चित्रण में जहां धार्मिक भावना की रक्षा हुई है, वहां कलात्मक अभिव्यक्ति भी सुलभ हो सकी है ।

मैंने कला की सृष्टि जीवन के मनोविज्ञान में ही देखी है, और इस भांति कला का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक हो गया है। चाहे कला किसी माध्यम से प्रकट हो या न हो, जीवन का मनोविज्ञान ही कला का सर्वप्रथम माध्यम है। इसीलिए कभी-कभी काव्य और संगीत या काव्य और चित्र परस्पर एक-दूसरे से मिल जाते हैं। मीरा या महादेवी का काव्य संगीत का आश्रय लेकर हृदय को पवित्र कर देता है, इसी प्रकार प्रसाद का काव्य चित्रात्मकता लेकर सौन्दर्य की साकार सृष्टि करता है।

सम्भव है, सभ्यता की प्रगति में सौन्दर्य की भावना अपनी दिशा बदले अथवा असुन्दर के प्रतीक संशोधित हों, किन्तु जब तक सौन्दर्य का सम्बन्ध मानव की रागवृत्ति से है, तब तक कला का जीवन नित्य और शाश्वत है।

शृंगार और अध्यात्म

सुमित्रानन्दन पन्त

भारतीय साहित्य परम्परा में शृंगार और अध्यात्म एक-दूसरे के विरोधी समझे जा कर परस्पर पूरक ही माने गए हैं और उनका पोषण भाई-बहनों की तरह एक ही साथ एक ही रस-तत्व द्वारा होता आया है । लोक-दृष्टि से ये दोनों मूल्य भले ही विभक्त कर दिए गए हों—पर रहस्य और कुछ अंशों में भक्ति साहित्य में भी जहां कहीं रस-चेतना या भावना को अलौकिक का स्पर्श मिला है, वहां शृंगार और अध्यात्म के उपादानों एवं प्रतीकों ने एक दूसरे के प्रस्फुटन तथा विकास में सहायता ही दी है। कालिदास ने 'कुमार-संभव' में शिव-पार्वती जैसे उच्चतम चेतना मूल्यों को शृंगारभूमि पर अव-तरित करा के तथा उनकी अन्तः रसक्रीड़ा को मानवीय परिधान पहना कर अपनी काव्य-रचना का चरमोत्कर्प दिखलाया है। 'शाकुंतल' में भी अध्यात्म की भूमि पर शृंगार ही का परिपाक हुआ है। शृंगार और अध्यात्म की ऐसी सर्वांगीण अभिव्यक्ति तथा परिपूर्ण एकता श्री राधा-कृष्ण के प्रतीकों के रूप में एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ कर परस्पर तन्मय हो गए हैं—उनका एकत्व वहां स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । शृंगार और अध्यात्म की ऐसी सर्वांगीण अभिव्यक्ति तथा परिपूर्ण एकता श्री राधा-कृष्ण के औद्भौम विराट् व्यक्तित्वों के चतुर्दिक निर्मित साहित्य के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलती। उनके कुछ रस परिप्रोत चरित्र जैसे शृंगार और अध्यात्म के रहस् मिलन के शाश्वत अभिसार स्थल हैं।

वास्तव में शृंगार का सन्तुलन तथा उन्नयन ही अध्यात्म है । शृंगारहीन

अध्यात्म गीत स्वर-लय-विहीन रिक्त हृदय बांसुरी-सा है। जहां अध्यात्म शृंगार को व्यापक धरातलों पर न उठा कर उसके मांसलाकार एवं रंगीन परिधान से दब या छिप जाता है वहां श्री जयदेव के 'गीत गोविन्द' की तरह वह निःसन्देह विकासोन्मुखी न रह कर ह्रासोन्मुखी बन जाता है। हिन्दी रीति काव्य के अन्तर्गत राधा-कृष्ण की लीला का अधिकांश निदर्शन साहित्य में, तथा वाममार्ग की अनेक क्रियाओं एवं सृजन विधियों का निरूपण धर्म में उपर्युक्त ह्रासयुगीन मनोवृत्ति का अत्यन्त स्पष्ट उदाहरण हैं। कृष्ण-साहित्य में तत्वतः जहां श्री राधा परम चेतना तथा स्वरूपा एवं ह्लादिनी शक्ति की प्रतीक हैं वहां वह शृंगार सिन्धुलहरी भी हैं—शृंगार की सर्वोच्च शिखर लहरी परखने पर चेतना की यह वैष्णव कल्पना शृंगार और अध्यात्म के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध तथा अन्तरैक्य के सत्य को जैसे अपनी समग्रता में मूर्तिमान कर, उसे सहृदय जन साधारण के लिए सहज सुलभ कर देती है।

कबीर की "कर ले शृंगार चतुर अलबेली साजन के घर जाना होगा" अथवा "घूंघट के पट खोल री" जैसी उक्तियों में हम देखते हैं कि शृंगार अध्यात्म के गले में बाहें डाल कर स्वयं तो ऊपर उठ ही जाता है वह अध्यात्म को भी भाव-बोध अथवा रस-बोध के निकट ले जाता है। सुन्दरता के छविगृह में ऊर्ध्व-दीपशिखा की तरह स्थित अध्यात्म की ज्योति रस से स्नेहसिक्त हो कर जीवन-सौन्दर्य को परिपूर्णता प्रदान करती है। इस प्रकार के अनेकानेक उदाहरण भारतीय साहित्य से उपस्थित किए जा सकते हैं जहां शृंगार अध्यात्म की अवतारणा कराने के लिए सबसे सबल, स्वच्छ तथा स्पष्ट माध्यम सिद्ध होता है। वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास जैसे क्रान्तद्रष्टा एवं कलाप्रवण कवि ऋषियों तथा सौन्दर्य स्रष्टाओं की यह गम्भीर साहित्य परम्परा ही रही है कि उन्होंने देह तथा आत्मा को, अथवा प्राण तथा मन को मानव सत्य के अविभाज्य अंग मान कर उनके बहिरन्तर के वैभव को एक साथ काव्यसूत्र में गुंफित कर आलोक को सौन्दर्य के धरातल पर स्थापित किया है।

मध्ययुगों से भारतीय मानस में जीवन चेतना तथा सांसारिकता के प्रति जो एक निषेध तथा वर्जना की धारणा प्रवेश कर गई उससे शृंगार तथा अध्यात्म दो विभिन्न विरोधी इकाइयों में सीमित हो कर स्वर्ग और नरक के अति-मूल्यों की तरह विभक्त हो गए। हमारी सामन्ती संस्कृति आध्यात्मिक, बौद्धिक, प्राणिक तथा भौतिक दृष्टि से श्री कृष्ण चैतन्य के रूप में परिपूर्ण अभिव्यक्ति पा कर कालान्तर में विघटित होने लगती है। इस विघटन के फलस्वरूप

हमारी शृंगार-भावना भी अधोमुखी रूप ग्रहण कर लेती है। और अनेक संकीर्ण नैतिक दृष्टिकोण तथा ह्रासयुगीन सामाजिक विकृतियां हमारी जीवन-दृष्टि को कुण्ठित कर देती हैं। रस के मूल आध्यात्मिक स्रोत से विच्छिन्न हो जाने के कारण जातीय मन में अनेक प्रकार के खोखले जीवन-विमुख आदर्श घर कर लेते हैं। सामाजिक यथार्थ की धारणा वैयक्तिक सुखवाद की भावना से ग्रस्त हो जाती है और राग भावना को सामूहिक सन्तुलन देने के बदले हम उसे नैतिक विरक्ति तथा क्षणभंगुर इन्द्रियतम का रूप देकर उपेक्षणीय तथा हेय मानने लगते है।

जिस प्रकार चेतना ही पदार्थ बन कर अपनी अभिव्यक्ति के लिए भौतिक आधार या माध्यम प्रस्तुत करती है, उसी प्रकार अध्यात्म ही शृंगार बन कर नित्य नवीन सौन्दर्यबोध के क्षितिजों को उद्‌घाटित करता है। मानव सभ्यता के इतिहास की सामन्ती सीमाओं के कारण—दूसरे शब्दों में भौतिक शक्तियों पर मानव का अधिकार न होने के कारण—पुरानी दुनिया की मानवता का संस्कृतीकरण एक सीमित क्षेत्र के भीतर सीमित रूप ही में सम्भव हो सका है। संस्कृतीकरण और अध्यात्मीकरण के बीच एक बहुत गहरी और व्यापक खाई रह गई है जिसे जातक वैराग्य, जीवन के प्रति निषेध तथा अनेक प्रकार की नैतिक वर्जनाओं आदि से पाट कर व्यक्ति चेतना का मात्र भावना के स्तर पर ही अध्यात्मीकरण अथवा रागोन्नयन सम्भव हो सका है। इस प्रकार शृंगार और अध्यात्म दो परस्पर घातक, एक दूसरे से मेल न खाने वाली, सीमित ऋण इकाइयों में बंट गए और उनका आपस का सम्बन्ध दृष्टि से ओझल हो जाने के कारण शृंगार इन्द्रियों के पंक में रेंगने वाली अधोमुखी वृत्ति बन गया और अध्यात्म श्मशानवासी या शुष्क वैराग्य के मरुस्थल में विचरने वाला आकाश कुसुमवत, जिसके मूल प्राणों के उर्वर धरातल से कट जाने के कारण वह लौकिक सामाजिक जीवन के लिए धीरे-धीरे अनुपयोगी तथा दुर्लभ हो गया। भारतीय दर्शन की खोज या शोध तो ठीक रही पर उसका उपयोग अलीक तथा भ्रामक रहा। दर्शन की दृष्टि से अद्वैतवादी होने पर भी भौतिक परिस्थितियों की सीमाओं के कारण, हम संस्कृति की दृष्टि से सदैव द्वैतवादी ही रहे और सहज व्यापक अध्यात्मीकरण का संचारण कुछ क्लिष्ट नैतिक सिद्धान्तों का रूप धारण कर कठोर रूढ़ि-रीतिगत परम्पराओं में जड़ीभूत हो गया, जिसके कारण जातीय जीवन का सतत-प्रवहमान तत्व, शृंगार तथा अध्यात्म की मूल्यांकन सम्बन्धी विषमताओं के कारण सत्य,

शिव तथा सुन्दर की अभिव्यक्ति से वंचित रह गया और अपने प्राणिक दारिद्रय के कारण हम मानसिक कायिक तथा भौतिक दारिद्रय से भी ग्रस्त हो गए।

तत्वतः शृंगार और अध्यात्म दोनों ही राग भावना या राग चेतना के दो अविभाज्य छोर हैं और एक के सम्बन्ध में ही दूसरे का मूल्य निर्धारित किया जा सकता है। शृंगार की सक्रिय प्राणवत्ता से विरहित अध्यात्म मात्र वैयक्तिक आत्मरति अथवा शुष्क सामाजिक वैराग्य बन कर रह जाता है। और अध्यात्म से वंचित शृंगार बहिर्जीवन के क्षणिक भोग-विलास में सन कर मलीन हो उठता है। जिस प्रकार देह के आधार बिना मन तथा चेतना का विकास सम्भव नहीं—वे एक निष्क्रिय अतीन्द्रिय स्थिति भर रह जाते हैं, उसी प्रकार शृंगार तत्वों से विमुक्त अध्यात्म कभी निर्जीव, नीरस, शून्य ब्रह्म की उपलब्धि मात्र रह जाता है। शृंगार चेतना या भावना के सामाजिक समन्वय के अभाव में मात्र अध्यात्म का दम्भ भरने वाला समाज हमारे मध्ययुगीन ढांचे की तरह निष्क्रिय, निष्प्राण, सौन्दर्य तथा लोकमंगल की दृष्टि से निःशक्त एवं अनुर्वर हो जाता है। शृंगार सन्तुलित सामाजिक जीवन का सौन्दर्य ही आध्यात्मिक चेतना का शरीर है, जिसके बिना उसका अस्तित्व पूर्ण सक्रिय नहीं हो सकता।

आज नारी-तन के स्तर पर शृंगार भावना का मूल्य आंकना अनुचित होगा। उसे धरा जीवन के स्तर पर देखना स्वाभाविक होगा। गृहस्थ जीवन के मूल्यों के रूप में शृंगार भावना का आंशिक विकास सम्भव हो सका है। आज विश्व जीवन को हमें एक अधिक उच्च तथा व्यापक चेतना में देखना है और राग चेतना के चिरन्तन सौन्दर्यपूर्ण गम्भीरतम स्तर, जो अभी प्रच्छन्न एवं अविकसित ही रह गए हैं, उन्हें मानव जीवन के सक्रिय अंग बना कर नवीन रागानुभूति में प्रस्फुटित तथा परिणत करना है। इन्द्रिय द्वारों में कुसुमित इस सार्वभौम राग चेतना को नए आध्यात्मिक प्रकाश में नवीन मूल्यों के रूप में ग्रहण कर आज स्त्री-पुरुष के युग्म जीवन को नवीन अनुराग सौन्दर्य तथा आनन्द से मण्डित करना है। और उसे प्राचीन मध्ययुगीन अनेक प्रकार के नैतिक निषेधों, वर्जनाओं तथा कुण्ठाओं से उबार कर उसमें नवीन सामाजिक सामंजस्य, वैयक्तिक संगीत तथा मानवीय निखार भरना है। अपनी अनेक रचनाओं में मैंने राग भावना के उन्नयन के साथ ही नवीन प्राणिक जीवन की स्वीकृति पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है और शृंगार और अध्यात्म के बीच पड़ी

प्राचीन खाई को तथा मध्ययुगीन नैतिक अवरोधों का अतिक्रम कर नवीन विश्व जीवन की सौन्दर्य चेतना के अस्फुट स्वप्न संचरण के शील शैव्य सौन्दर्य मुखर गतिमय संगीत को अपने छन्दों में बांधने की चेष्टा की है। 'आत्मिका' में मैंने एक स्थान पर कहा है :—

भू पर संस्कृत इन्द्रिय जीवन, मानव आत्मा को रे अभिमत
ईश्वर को प्रिय नहीं विरागी, संन्यासी, जीवन से उभरत !
आत्मा को प्राणों से विलगा अधिदर्शन ने की जग की क्षति—
—इत्यादि

अन्यत्र इसी कविता में मैंने कहा है :—

स्वर्ग नरक कह परलोकों में व्यर्थ भटकते धर्ममूढ़ जन
ईश्वर से इन्द्रिय जीवन तक एक संचरण रे भू पावन !

शृंगार तथा अध्यात्म को संयोजित करते हुए मैंने प्राणों एवं इन्द्रियों के जीवन की महत्ता दिखाते हुए 'वाणी' में कहा है :—

प्राण, धन्य तुम, रजत हरित ज्वारों से उठ कर
आशा आकांक्षा के मोहित फेनिल सागर ।
चन्द्रकला को बिठा स्वप्न की ज्वालतरी में
तुम बखेरते रहे छटा आनन्द तीर पर !
में उपकृत इन्द्रियां-रूप रस गंध स्पर्श स्तर
लीला द्वार खुले अनन्त के बाहर भीतर
अप्सरियों से दीपित स्तर धनुओं के अंबर
निज असीम शोभाओं में तुम पर न्योछावर !

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि रूप की ज्वालतरी में बैठी चन्द्रकला आध्यात्मिक चेतना ही है। मेरे विचार में शृंगार और अध्यात्म का परिणय निःसन्देह नवीन जीवन सौन्दर्य को जन्म देगा, जिसका अवतरण एवं प्रस्फुटन मानवता के लिए नवीन आशा-उल्लास तथा लोकमंगल का सूचक होगा ।

यथार्थ और कल्पना

रामनाथ सुमन

बरसात के दिन। अपना भरा हृदय पृथ्वी के अंचल में उण्डेलने, आत्मार्पण करने को उत्सुक बादल। अन्धकार में कभी-कभी हँस उठने वाला प्रकाश-पिण्ड, जैसे काले घूंघट के पीछे से झांकती अमृतयौवना का मुखड़ा। हृदयों के पटल खोलने वाली बयार। कला के कक्ष में बैठा यथार्थ और कल्पना की आख-मिचौनी देख रहा हूं।

जगत् के साहित्य में न जाने किस काल से कला की व्याख्याएं होती आ रही हैं। इन अगणित व्याख्याओं के वाग्जाल में वह स्पष्ट कभी न हो पाई, उलझ कर ही रह गई है। शेली कहता है—कल्पना की अभिव्यक्ति ही कला है। फ्रेंच समालोचक फागुए भाव की उस अभिव्यक्ति को कला कहता है जो तीव्रता से मानव-हृदय को स्पर्श कर सके। कोई जीवन की व्याख्या को कला मानता है, कोई रवीन्द्रनाथ की भांति अपने हृदय के भावोद्रेक के साथ विश्व के सम्बन्ध में व्यक्तिकरण को कला कहता है। पर अधिकांश सुधीजन इतना अवश्य मानते हैं कि कला में यथार्थ अथवा वस्तु-जगत के साथ अन्तर्जगत के कुछ तत्व अवश्य होते हैं। वह अमूर्त सत्यों को ग्रहण कर उन्हें मूर्त करने की चेष्टा करती है। दर्शन की भाषा में वह स्व और पर, अन्तर एवं बाह्य के एकीकरण द्वारा आनन्दोपलब्धि में सहायक होती है। जो अन्तर में समाया हुआ है और जो बाहर भी है, उसके एकत्व की अनुभूति की एक प्यास हम में है। अखण्ड की, अनेक में एक की यही अनुभूति सत्य को व्यक्त करती है। अपने भीतर की वेदना का निखिल की वेदना से सम्मिलन ही श्रेष्ठ कला को जन्म देता है।

रवीन्द्रनाथ अपने अनुभव की बात कहते हुए लिखते हैं —"कभी-कभी जब मैं अपने मन से गाने बैठा हूं, तब कीट्स की भांति ही एक गम्भीर प्रश्न ने मुझे व्याकुल कर दिया है। मैंने पूछा है : यह क्या केवल एक माया है या इसका कोई अर्थ भी है ? गान के सुर में अपने को बहा दिया और सब चीज़ों का मूल्य जैसे एक ही क्षण में बदल गया। जो अकिंचन था, अनुपम हो उठा। क्यों ? क्योंकि गीत के सुर के प्रकाश में इतनी देर के बाद सत्य को देखा है।" यही प्रकाश है जो तुच्छ और महान को एक कर देता है...एक सौन्दर्य से मण्डित कर देता है। तब कुछ भी तुच्छ, कुछ भी असुन्दर नहीं रह जाता। यही सौन्दर्य सृष्टि कला का धर्म है।

अभिव्यक्ति जीव की, मानव की अत्यन्त प्राकृतिक मूल प्रेरणा है। इसमें मनुष्य अपने को ही प्रकट नहीं करता, अपने साथ दूसरों को भी व्यक्त करता है। इस प्रकाश तत्व से ही अपने अहं को वह सबसे मिला कर प्रकृति के विराट एकत्व को देखता है। अन्तर की आकुल प्रेरणाओं के कारण उसके निजत्व का प्रसार होता है और वह अनुभूति के माध्यम से दूसरों की वेदना को अपनी वेदना बनाने में सफल होता है। विराट का यह साक्षात्कार मानवों के स्पर्श से जगत् पर सौन्दर्य का जादू फेर देता है। इस प्रकार हृदय जब भावों के ऐश्वर्य से पूर्ण होकर व्यक्त होता है तब कला जन्म लेती है।

जब बहुत वेदना होती है तभी हम रोते हैं, जब बहुत उल्लास होता है तभी हम गाते हैं, गुनगुनाते या हँसते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के मूल में भावना की तीव्रता या प्राचुर्य है। जब भाव हमारे हृदय में इतने उमड़ते हैं कि समाते नही, तब वे बाहर आते हैं और गीत, चित्र, भास्कर्य तथा काव्य के रूप में दूसरों से अपने उन भावों के सम्बन्ध को प्रकाशित करते हैं। अपने भावोद्वेग का समाजीकरण या साधारणीकरण ही कलाभिव्यक्ति का प्रारम्भ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कला सृष्टि का मूल भाव है। पर केवल भाव कला-सृष्टि में असमर्थ है, क्योंकि भाव अपने को यथार्थ के सम्पर्क और साधन से ही प्रकट कर सकता है। यथार्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित होने पर ही भावों में गति आती है और वे रूप ग्रहण करते हैं। यह यथार्थ कला का अवयव है, शरीर है। चित्रकार एक जीर्णा भिखारिणी को देखता है। उसके हृदय के भाव भिखारिणी के जीवन से जुड़ते हैं। यह योग चित्र की कल्पना-शक्ति के द्वारा होता है। भिखारिणी के यथार्थ पर अन्तर के भावों की प्रतिक्रिया ही चित्र में प्रकाशित होती है। उसमें केवल भिखारिणी नहीं, केवल द्रष्टा या चित्रकार नहीं, भिखारिणी

यथार्थ है पर भिखारिणी के चित्र में चित्रकार के हृदयोद्वेग भी उससे मिल कर प्रकाशित हैं। इस प्रकार यथार्थ कला को शरीर देता है। अनुबन्ध, कौशल (टेकनीक), छन्द, मात्रा, सब यथार्थ के ही रूपान्तर हैं। द्रष्टा एवं दृश्य के समन्वय से जो सौन्दर्य-सृष्टि होती है, वही कला का प्राण है। यह सौन्दर्य आन्तर एवं बाह्य दोनों प्रकार का होता है। बाह्य सौन्दर्य विशेष परिस्थिति, वातावरण एवं आकृति के चित्रण में है, आन्तर सौन्दर्य इन सबके पीछे झांकते एक निर्विशेष भाव की पकड़ में है। इस कला की आत्मा रस है जो कला के परिणाम या लक्ष्य आनन्द की सृष्टि करता है—"आनन्दरूपममृतं यद्विभाति"—जो अमृत आनन्द रूप में प्रकाशित है या "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"। वह रस है। उसी रस को पाकर हमें आनन्द होता है।

इस प्रकार कला-सृष्टि का क्रमबद्ध रूप यों बनता है—

कला-सृष्टि

मूल

(अन्तर का अदृश्य आवेग या भाव)

शरीर

(यथार्थ के साथ उस भाव का सम्बन्ध और रूप-ग्रहण)

प्राण

सौन्दर्य (आन्तर एवं बाह्य)

आत्मा

(रस)

लक्ष्य या फल

(आनन्द)

संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला और काव्य, सब का विकास इसी ढंग पर हुआ है। पहले मन में निगूढ़ स्पन्दन हुआ, भाव में गति आई। संगीत का जन्म हुआ। तब जिसको लेकर हृदय में तूफ़ान उठता है उसके रूप-दर्शन की प्यास चटखी। अशरीरी संगीत को रूप और नयन प्राप्त हुए। रूप जगत् बना। चित्रकला की उत्पत्ति हुई। दर्शन से स्पर्श-सुख की प्रेरणा हुई। कुछ ठोस, स्थूल जिसे हम देख ही न सकें, छू भी सकें। इस प्रकार वस्तु की सत्ता स्थापित हुई। सूक्ष्म को देह मिली। भास्कर्य या मूर्तिकला का उद्भव हुआ। पर भाव, दर्शन (रूप) और स्पर्श का सुख सब मूक थे, इसीलिए अन्त में कला को वाणी प्राप्त हुई। काव्य का जन्म हुआ। इसमें सब कलाओं का समाहार हुआ।

इस प्रकार कला के क्रमिक विकास की शृंखला यों बनती है —

१. संगीत

मन के निगूढ़ स्पन्दन से उठती, भाव को गति देने की प्रक्रिया। अव्यक्त नाद में ध्वनि का विकास।

२. चित्रकला

रूपदर्शन की प्यास। अशरीरी संगीत में रूप एवं नयन का समावेश।

३. भास्कर्य (मूर्तिकला)

चित्र की सूक्ष्मता या रूप में स्थूलता या देह की सृष्टि। स्पर्श-भावना का प्रतीक।

४. काव्य

मूकता में वाणी की सृष्टि।

इस प्रकार—

भावोद्वेग....स्वर सामंजस्य....से संगीत
प्रत्यक्षीकरण भावना...से चित्र
स्थूलता....स्पर्श-भावना.....से मूर्ति
मुखराभिव्यक्ति से वाणी....काव्य

यथार्थ का सामान्य अर्थ है जिसका जो अभिप्राय है उसकी उपस्थिति। इस तरह वह सत्य के निकट है परन्तु एक निश्चित अर्थ में युगों से उसका प्रयोग होने के कारण और एक वाद विशेष से सम्बन्धित हो जाने के कारण उसका अर्थ वस्तु जगत्, दृश्य जगत्, पदार्थ जगत् तक सीमित हो गया है। इस प्रकार आजकल कला में यथार्थ का अभिप्राय प्रायः यही लिया जाता है कि हमारे कलाकार आकाश में न उड़ें, ज़मीन पर रहें, ज़मीन की बातें करें। कल्पनालोक से दूर हमारे चारों ओर जो दृश्य एवं सहज सभ्य जगत् फैला हुआ है, उसी तक सीमित हों और उसकी अभिव्यक्ति भी ऐसी हो जिसे सामान्य मानव—इन्द्रियलब्ध प्रेरणाओं से—समझ सके। यथार्थवादी पदार्थ जगत् का प्राणी है। उसका प्रेम आत्मैक्य की स्मृति से नहीं, शरीर भोग से उद्वेलित होता है। वह प्राणी की भूख, काम, निद्रा इत्यादि मूल पशु-वृत्तियों का सौन्दर्य मात्र चित्रित करने के पक्ष में है। वह मानव को पदार्थ जगत् से स्वतन्त्र नहीं मानता बल्कि उसको सामाजिक प्रवृत्ति की इकाई मानता है। इस तरह यथार्थ के भी कई रूप हो गए हैं पर मुख्य बात सब में एक है—वस्तु जगत् की अभिव्यक्ति।

बाद के रूप में लें तो नावीन्यवाद (रोमांस) और आदर्शवाद (आइडियलिज़्म) के प्रतिक्रिया रूप वस्तुवाद या यथार्थवाद की सृष्टि यूरोप में हुई थी। इस देश के साहित्य एवं कला में भी उसकी रेखाएं मिलती हैं पर उनका कोई निश्चित क्रम नहीं है। पर यथार्थवाद बहुत दिनों तक शिल्पी के अन्तस्थ भावों से अप्रभावित न रह सका, उससे प्रतीकवाद (सिम्बोलिज़्म), प्रभाववाद (इम्प्रेशनिज़्म), अभिव्यंजनावाद (एक्सप्रेशनिज़्म) तथा अन्त में रहस्य के धुंधले एवं विकृत रूप अस्पष्टतावाद (डैडिज़्म) विकसित होते गए। मार्क्स ने पदार्थवादी व्याख्या पर बल दिया पर एंजेल्स ने उसमें अनेक संशोधन किए और फ्रायड ने उसका अन्तर्विश्लेषण किया। युद्ध की मानसिक व्याख्याओं ने उसे फिर अतल के गर्भ में उतार दिया। यहां तक कि स्टालिन जैसे घोर यथार्थ के पूजक ने 'आत्मा के शिल्पी' (बिल्डर्स ऑफ दि सोल) कह कर कलाकारों की अभ्यर्थना की। मैं जानता हूं कि स्टालिन की आत्मा वेदान्ती की आत्मा से भिन्न अर्थ रखती है, फिर भी पदार्थ में भावना की 'स्पिरिट' के संयोग की सूचना तो वह देती ही है।

कल्पना शब्द क्लृप धातु से बना है जिसका अर्थ है क्रिया का सामर्थ्य अथवा प्रकारान्तर से सृजन करना। जगत् की तीन स्थितियां हैं— सत्, चित्, आनन्द। सत् शरीर, मन, बुद्धि से लभ्य ज्ञान के सहारे अहं या अपनी सत्ता के बोध का नाम है। चित् इनके परे जो चेतन वृत्तियां हैं उनकी अनुभूति को कहते हैं। अदृश्य जगत् का स्पर्श मानव इसी शक्ति से करता है। कल्पना इसी शक्ति की प्रेरणा है। यों भी कह सकते हैं कि स्मृति और ज्ञान के बल पर स्थान एवं वस्तु के भेद से नए रूप ग्रहण करने वाली मनःशक्ति का नाम कल्पना है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में प्रायः सर्वत्र कल्पना का महत्व स्वीकार किया गया है। ग्रेविना और मुरेटरी, बेकन तथा एडीसन शीलिंग, सब उसका प्राधान्य स्वीकार करते हैं। क्रोसे ने अपने 'एस्थेटिक्स' में लिखा है—"सच्ची कला केवल एक क्षण की छाप नहीं, वरन् असीम जीवन का प्रतिनिधित्व है—वह उद्वेलित प्रेरणा का मूर्त रूप है।..... दर्शन के अनुसार यथार्थ वस्तुएं जिन धारणाओं की अपूर्ण प्रतिकृतियां हैं, वही कला में पूर्ण हो कर व्यक्त होती हैं।"

इस कल्पना से ही अपूर्णता का सम्बन्ध पूर्णता से स्थापित होता है और इसीलिए यथार्थ को भी आन्तरिक सत्यों से कल्पना ही सम्बन्धित करती है। यथार्थ जब कल्पना के सौन्दर्य से मण्डित होता है तभी वास्तविक कला जन्म लेती है। यदि ऐसा न होता तो अनुकृति (फोटो) और चित्रकला में कुछ अन्तर न होता। फोटो और चित्र में जो अन्तर है वही प्रकृति और कला में है। प्रकृति यथार्थ है,

कला उस प्रकृति के यथार्थ में कल्पना की प्रतिक्रिया है। फोटो प्रकृति की ठीक अनुकृति है, चित्र अनुकृति नही, एक नवीन सृष्टि है। चित्रकार यथार्थ के पीछे जो एक अन्तर्जगत है, दृश्य के पीछे जो अदृश्य है उसे कल्पना के सहारे पकड़ता है। जिस प्रकार मैं पहले भिखारिणी के उदाहरण में स्पष्ट कर चुका हूं, यहां पुनः कहता हूं कि जब चित्रकार एक मुग्धा विरहिणी के प्रतीक्षातुर रूप का चित्र अंकित करता है; जब वह एक विपन्न, झुकी कमर, लकड़ी टेकती, पथ पर चलती वृद्धा की जीवन-संध्या को चित्रित करता है, तब वह एक विरहिणी या एक जीर्णा को ही चित्रित नहीं करता वरन् उनसे अपने हृदय का सम्बन्ध स्थापित कर कुछ अपने को भी प्रकट करता है। वस्तु से द्रष्टा के हृदय का ऐक्य स्थापित होकर एक अभिनव सौन्दर्य-सृष्टि का प्रकाश होता है। विरहिणी का विरह वैयक्तिक है परन्तु चित्रकार की कल्पना एवं अनुभूति उस विरह का साधारणीकरण करती है। वैयक्तिक विरह विश्वजनीन एवं शाश्वत विरह बन जाता है। एक पदार्थ या वस्तु का फोटो, कुछ भेदों के साथ, एक ही होगा परन्तु उसी के चित्र भिन्न-भिन्न चित्रकारों द्वारा अंकित होंगे तो उनमें मौलिक भेद होगा।

दास्तोवस्की कहता है कि शिल्पी जिस मुख को अंकित करते है उसमें उस व्यक्ति के अन्तर के विशेष भावों को प्रकाशित करने की भी वे चेष्टा करते हैं। फोटो में, केवल यथार्थ में, एक क्रूर व्यक्ति का चेहरा करुणाजनक मालूम पड़ सकता है क्योंकि उसमें केवल बाह्य झलकता है, अन्तर नहीं, जबकि चित्र में, कला में बाह्य भी है, अन्तर भी है। बल्कि अन्तर प्रधान है। इसीलिए लियोनार्दो द विंशी कहते हैं कि मनुष्य एवं उसकी आत्मा की आकांक्षा को तूलिका की सहायता से प्रस्फटित कर देने में ही कला की सार्थकता है। राफेल के चित्र आज तक इसलिए श्रेष्ठ है कि उनमें आत्मा की झांकी मिलती है। कोणार्क एवं खजुराहो की कला में भी हम दिव्य कल्पना को यथार्थ का रूप धारण करते देखते हैं। इसीलिए मानव कला के माध्यम से युगों का अतिक्रम कर अपने को पाता एवं देखता है।

यथार्थ और कल्पना के विषय में लोगों में बड़ा भ्रम है और अधिकांश का दृष्टिकोण अवैज्ञानिक या अतिरंजित है। सच पूछें तो जो कुछ है सब सत्य ही है। जो हम देखते-सुनते है, जिसका अनुभव या अनुमान करते है, जिसकी कल्पना करते और बुद्धि से जिसको ग्रहण करते हैं, सब सत्य है। क्योंकि वह है....वह सत् है। हम किसी ऐसी वस्तु की कल्पना ही नहीं कर सकते जो असत् है या नहीं है। यह हो सकता है कि वह इन्द्रियलब्ध न हो, वस्तुजगत् में उसका साक्षात्कार

हमें न हो। व्यक्त सत्य यथार्थ है, अव्यक्त सत्य कल्पना है। वस्तुतः यथार्थ और कल्पना एक ही सत्य के दो पहलू है। अदृश्य सत्य ही कल्पना है। कल्पना जब शरीरी हो जाती है तब वही यथार्थ है। इसी कल्पना के सम्पर्क से रसानुभूति होती है... व्यक्ति का 'अहं' सृष्टि के 'परम्' से मिलता है।

राबर्टसन ने 'दि जेनेसिस ऑफ रोमेंटिक थियोरी' में ठीक ही निष्कर्ष निकाला है कि प्राचीनतावाद....नवीनतावाद....आदर्शवाद....वस्तुवाद.... समूहवाद....व्यक्तिवाद....इत्यादि विरोधात्मक शब्द हमें प्रिय लगते हैं किन्तु पूर्णतर ज्ञान के साथ हमें स्पष्ट हो जाता है कि ये विरोध मूलतः असत्य है। चिन्तन-धारा का विकास इस प्रकार के किसी तीव्र विरोध को स्वीकार नहीं करता।

इस तरह हम देख सकते हैं कि कला के कक्ष में यथार्थ और कल्पना दोनों का उपयोग है। दोनों मिल कर एक सत्य को प्रकट करते हैं। कला की वस्तु, उसके साधन, उसके आधार यथार्थ है, उसकी प्रेरक शक्ति कल्पना है। दोनों के एकीकरण से ही श्रेष्ठ कला जन्म लेती है।

स्वान्तः सुखाय

भगवतीचरण वर्मा

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा,
भाषा निबद्ध मति मंजुलमातनोति ।

इन शब्दों के साथ महाकवि तुलसीदास ने अपने अमर महाकाव्य 'रामचरित मानस' की रचना प्रारम्भ की थी ।

कवि द्वारा अपने सुख के लिए लिखा गया यह महाकाव्य हमारे देश के कोने-कोने में पढ़ा जाता है । इस ग्रन्थ से लोगों को शान्ति मिलती है, इसके द्वारा उन्हें रस मिलता है, इसको पढ़ कर लोग भक्ति-भावना से गद्‌गद् हो जाते हैं ।

और इसीलिए आज के युग में जब साहित्यिक मान्यताओं को एक नवीन दृष्टिकोण से देखा जाने लगा है तब मुझे कुछ ऐसा लगता है कि स्वान्तः सुखाय साहित्यिक मान्यताओं का सर्वप्रथम शाश्वत सत्य है । जन-कल्याण और लोक-हित के नवीन दृष्टिकोण पर पूर्ण रूप से आस्था रखते हुए भी 'स्वान्तः सुखाय' में व्यक्तिवाद की जो सीमा है उसकी महत्ता मुझे स्वीकार करनी ही पड़ती है । मैं समझता हूं कि व्यक्तिवाद की यही सीमा महान साहित्य का सृजन कर सकती है, व्यक्तिवाद की यह अहम् की भावना ही सृजन का मूल स्रोत है ।

इसका यह अर्थ नहीं कि लोक-हित और जन-कल्याण को मैं साहित्यिक मान्यता का सत्य नहीं मानता । नवीन चेतना के फलस्वरूप जो सत्य हम पर प्रकट हुआ है वह तो यह है कि व्यक्ति का समस्त जीवन समष्टि अर्पित है; व्यक्ति समष्टि का एक भाग ही तो है और व्यक्ति की सार्थकता समष्टि में लय हो जाने पर है ।

जो साहित्य लोक-हित और जन-कल्याण की उपेक्षा करता है वह निष्प्राण साहित्य है, वह व्यक्ति की विकृतियों का द्योतक है और समाज द्वारा उपेक्षित अथवा दण्डनीय है ।

लोक-हित और जन-कल्याण की उपेक्षा करने वाला समस्त साहित्य स्वान्तः सुखाय है, यही कैसे मान लिया जाए ? मेरा ऐसा अनुभव है कि ऐसा साहित्य अधिकांश में कुछ विशिष्ट उद्देश्यों से प्रेरित होता है, और इन उद्देश्यों में धन की प्राप्ति प्रथम है। यह धन जनता से मिलता है अथवा राज्य से मिलता है इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता । महत्वपूर्ण बात यह है कि ऐसा साहित्य दूसरों की तुष्टि के लिए है और इसलिए स्वान्तः सुखाय नहीं है। मान, आदर, प्रतिष्ठा—ये सब के सब ऐसे भौतिक तत्व हैं जो स्वान्तः सुखाय में निहित आत्मिक अथवा आध्यात्मिक तत्व से पृथक हैं। मान, प्रतिष्ठा, आदर, धन, वैभव—ये सब शारीरिक तत्व हैं, आत्मिक तत्व नहीं हैं और मेरे मत से इन चीज़ों को प्राप्त करने के लिए लिखा गया साहित्य स्वान्तः सुखाय नहीं है। इस प्रकार के साहित्य में लोक-हित और जन-कल्याण के तत्व हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते। इन तत्वों का होना या न होना इस बात पर निर्भर है कि किसे तुष्ट करने के लिए यह साहित्य लिखा जा रहा है।

विश्व का अधिकांश साहित्य राजाश्रय में विकसित हुआ है, और इसलिए उसमें राजाओं की रुचि की तुष्ट की भावना सर्वप्रथम है। फलतः शृंगारिकता से वह साहित्य ओतप्रोत है। इसीलिए साहित्यकार की प्रतिभा के कारण, श्रेष्ठ होते हुए भी वह साहित्य अमर साहित्य नहीं कहा जा सकता—अमर साहित्य वह है जिसमें सात्विकता हो, और यह सात्विकता साहित्यकार के अन्तर की चीज़ है, उसे बाहर से प्राप्त नहीं होती। और इसीलिए, साहित्य की अमर रचनाएं उन ऋषि-मुनियों से प्राप्त हुई हैं, जिन्होंने राजाश्रय स्वीकार नहीं किया, जिन्होंने पर्ण कुटीर में बैठ कर; मान, आदर, प्रतिष्ठा, धन, वैभव से विमुख हो कर साहित्य की रचना की है। व्यास, वाल्मीकि, तुलसी, कबीर—ये सब-के-सब उसी परम्परा के कवि हैं। कुछ अमर कवियों को भी राजाश्रय मिला है जैसे महा-कवि कालिदास को। किन्तु वहां राज्य ने कवि का आदर किया है, कवि का संरक्षण नहीं किया है।

स्वान्तः सुखाय में जो अहम्वाद स्पष्ट रूप से दीखता है, उसके होते हुए वह लोक-हित और जन-कल्याण की भावना से किस प्रकार प्रेरित हो सकता है ? इस प्रश्न का मुझे स्पष्ट उत्तर देना चाहिए।

यह जो समष्टि है यह व्यक्तियों का संग्रह तो है ही ! आखिर समाजवाद की स्थापना में व्यक्ति का ही तो हाथ है ! वह व्यक्ति चाहे नेता हो, चाहे विचारक हो ! जो समष्टि की उपादेयता का निर्धारण करता है वह व्यक्ति ही तो है। समष्टि की उन्नति किसी व्यक्ति विशेष की प्रेरणा से ही होती है, और व्यक्ति की प्रेरणा ही अहम्वाद का एक आवश्यक अंग है। यह जितनी प्रेरणा अथवा भावना है, वह हमें अपने अन्दर से प्राप्त होती है, बाहर से नहीं मिलती। जिसे हम परिस्थिति कहते हैं वह केवल हमारे विकास में सहायक अथवा बाधक हो सकती है। यह परिस्थिति मूल रूप से हमारा निर्माण नहीं करती। हरेक आदमी तो बुद्ध, ईसा अथवा गांधी नहीं होता और न हरेक साहित्यकार वाल्मीकि, व्यास, कालिदास अथवा तुलसीदास हो सकता है। हरेक व्यक्ति के पास उसका निजी व्यक्तित्व है, उसकी निजी क्षमता है। इस व्यक्तित्व अथवा क्षमता का उपयोग लोक-हित और जन-कल्याण के लिए हो, केवल इतना अभीष्ट है।

व्यक्ति का अहम्वाद समष्टि का विरोधी कब है ? एक अविकसित और संकुचित अहम् पशुता का द्योतक है, यह माना, पर विकसित अहम् उस असीमित बल का द्योतक है जो समष्टि को अपने अन्तर्गत कर लेता है। विकसित अहम्—धन, वैभव, मान के सामने झुकना नहीं जानता। वह तो समर्थ और सशक्त मानवता का द्योतक है जिसका गुण दया, प्रेम, त्याग है; जो भिखारी नहीं है, दाता है।

जो स्रष्टा साहित्यकार है वह दूसरों से नियन्त्रित नहीं होगा, वह स्वयं दूसरों का नियन्त्रण करेगा। उसमें शासक और नेता की कठोरता नहीं होगी, उसके हाथ में दण्ड की तलवार नहीं होगी, वह विनाश को नहीं अपनाएगा। वह तो उस दया, प्रेम और ममता का सृजन करता रहेगा जिनके आधार पर समष्टि का भवन खड़ा है। यदि प्रेम, सहानुभूति, सौहार्द, ममता और दया मानव में से निकल जाएं तो यह समष्टि का भवन ही ढह जाएगा। असत्य और अविश्वास पर तो समष्टि स्थित नहीं रह सकती।

मानव-विकास के इतिहास में समष्टि की वह भावना मूल रूप में मौजूद है। परिवार, ग्राम, नगर, देश—ये सब समष्टि के रूप ही तो हैं। इस नवीन युग ने मानव समाज की एक अन्तर्हित और गौण प्रकृति को किन्हीं कारणों से स्पष्ट और प्रकट भले ही कर दिया हो पर उसने कोई नवीन सत्य नहीं ढूंढ निकाला है। वे ऋषि-मुनि जिन्होंने आश्रमों में रह कर साहित्य का सृजन किया, उनके अन्दर लोक-हित और जन-कल्याण की ही तो प्रेरणा थी। वही लोग मानव-विकास के प्रमुख स्तम्भ रहे हैं।

यह समस्त तर्क-बुद्धि, अध्ययन-मनन, ज्ञान-विज्ञान---इनका मूल स्रोत भावना में ही है। भावना की सात्विकता रचना है, भावना की विकृति ही विनाश है। उत्पीड़न, शोषण और अविश्वास वहीं है जहां दया, प्रेम, ममता और त्याग का अभाव है। यह सारा दुख-दैन्य मानव की विकृतियों से भरी हिंसा की उपज है। यह हिंसा आरोपित नही है, यह हिंसा अभाव का दूसरा रूप है। और यह अभाव भावना का अभाव है।

मेरी सम्मति में साहित्य का एकमात्र उद्देश्य है---भावना का उदात्तीकरण। यह भावना का उदात्तीकरण निर्माण का तत्व है, विनाश का तत्व नहीं है। और मानव का स्वाभाविक गुण निर्माण द्वारा सुख प्राप्त करना है, न कि विनाश द्वारा सुख प्राप्त करना। सुख विनाश का गुण है ही नहीं, न वह कभी विनाश का गुण हो सकता है। विनाश तो क्रोध और घृणा का लक्ष्य है।

महान साहित्य का स्वान्तः सुखाय होना अनिवार्य है। जब लोक-हित और जन-कल्याण के बन्धनों से साहित्य जकड़ा जाता है तब वह साहित्य न होकर प्रचार हो जाता है।

'प्रचार' शब्द पर लोगों को आपत्ति हो सकती है, और इसलिए 'प्रचार' शब्द की व्याख्या करना मेरा कर्त्तव्य हो जाता है। मनुष्य जब अपनी बात कहता है तब वह अपने व्यक्तित्व का निक्षेप करता है, अपनी भावना का प्रदर्शन करता है। मनुष्य के निजी सिद्धान्तों, आदर्शों और तर्कों से उसकी भावना पृथक नही रहती। ये सिद्धान्त, आदर्श और तर्क उसकी भावना के ही भाग है। ऐसी हालत में 'प्रचार' शब्द के संकुचित अर्थों में तो प्रत्येक मनुष्य का समस्त जीवन उसका प्रचार ही साबित होगा। मै तो प्रचार के मान्य अर्थ को ही लेता हूं। प्रचार का अर्थ है दूसरों के सत्य को किन्हीं कारणों से आरोपित करना, चाहे वह सत्य समष्टि का सत्य ही क्यों न हो। उदाहरण के रूप में सहकारी खेती, भूदान, श्रमदान आदि कितनी ही बातें समष्टि का सत्य हो सकती है, पर जब कोई साहित्यकार अपने अन्दर की प्रेरणा के बिना इन चीज़ों पर साहित्य का सृजन करता है तब वह प्रचार ही करता है, वह साहित्य का सृजन नही करता।

इसका यह अर्थ नहीं कि मै इस प्रकार के प्रचार के साहित्य का विरोधी हूं। ऐसा प्राणवान साहित्य जो युग का निर्माण करे, जो युग-युग तक जीवित रहे, है ही कितना और कहां है? अधिकांश साहित्य समय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लिखा जाता है, और ऐसे साहित्य में यदि जन-कल्याण और लोक-हित

का समावेश हो सके तो अच्छा ही है। आज जब मानव की प्रतिभा जीवकोपार्जन में सहायक होती है तो साहित्यकार की साहित्यिक प्रतिभा देश-निर्माण में लगे तो इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? पर इस प्रचार में भी यदि साहित्यकार अपने आपको, उस चीज़ से जिसका वह प्रचार करता है, भावना के रूप में एक-रस कर ले तो बहुत अच्छा हो। वही साहित्य प्राणवान हो सकता है जो स्वान्तः सुखाय हो, जहां साहित्यकार को प्रयत्न न करना पड़े, जो स्वाभाविक रूप से आता जाए।

मेरा ऐसा अनुभव है कि विकृत साहित्य कभी जीवित साहित्य नहीं हो सकता। कुछ समय के लिए और कुछ लोगों में भले ही इस प्रकार के साहित्य का प्रभाव रहा हो पर सात्विकता पर आस्था रखने वाला जन इस साहित्य को स्वीकार नहीं करेगा। और साहित्यकार की यह विकृति भी उसकी अस्थायी प्रकृति हो सकती है।

अनादिकाल से न जाने कितना अश्लील और कुरुचिपूर्ण साहित्य लिखा गया है, नित्यप्रति लिखा जा रहा है। इस प्रकार का साहित्य स्वान्तः सुखाय होता है, यह कहना गलत है। इस प्रकार का साहित्य मुख्य रूप से दूसरों की कुरुचि को सन्तुष्ट करने के लिए लिखा जाता है। बहुत सम्भव है कि इस प्रकार के साहित्य के लेखक धन के लिए ऐसा साहित्य न लिखते हों, पर ख्याति और प्रशंसा के लिए लिखते हों। मैं पहले ही कह चुका हूं कि धन, मान-मर्यादा, ख्याति की प्राप्ति भौतिक सिद्धियां ही हैं जो अपने अन्दर की चीज़ नहीं हैं, दूसरों पर आश्रित हैं और दूसरों से सम्बन्धित है।

राजनीतिक संघर्षों की वर्तमान दुनिया में विरोध और विद्रोह का क्रान्तिकारी साहित्य हमारे सामने एक समस्या के रूप में आता है। यह सत्य है कि संघर्ष का यह क्रान्तिकारी साहित्य अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है और उपादेयता एवं उपयोगिता की दृष्टि से इस प्रकार का साहित्य आदरणीय है। इस प्रकार के साहित्य ने क्रान्तियां कर दी हैं। क्रान्तिकारी गीतों से प्रेरणा प्राप्त करके सेनाएं आगे बढ़ी हैं। पर इस प्रकार का साहित्य रचनात्मक नहीं कहलाया, उसने अमरता नहीं प्राप्त की। इस प्रकार साहित्य के लेखकों ने स्वयं सुख प्राप्त करने के लिए उसका सृजन नहीं किया, उन्होंने तो तात्कालिक परिस्थितियों से क्षुब्ध हो कर, कटुता और कुण्ठा को अपना कर उन परिस्थितियों पर आघात ही किया है। उपस्थित और प्रचलित मान्यताओं को नष्ट करना राजनीतिक कर्म है। नवीन मान्यताओं को स्थापित करना स्रष्टा का कर्म है। सशक्त नवीन, जीर्ण-शीर्ण पुरातन को

हटा कर स्वयं अपने को स्थापित कर लेगा। आवश्यकता इस पुरातन के विनाश की नहीं है, नवीन के सृजन की है।

एक महत्वपूर्ण बात और रह गई। क्या साहित्य युग का प्रतिनिधि है या साहित्य युग का निर्माण करता है? ऊपरी तौर से इस प्रश्न में और साहित्य के स्वान्तः सुखाय होने में कोई सम्बन्ध नहीं दिखता, पर वास्तविक रूप में ये दोनों बातें एक-दूसरे पर आश्रित हैं।

जब हम यह कहते हैं कि साहित्य युग का प्रतिनिधि मात्र है तब हम साहित्य को परिस्थितियों पर आश्रित मानते हैं। यहां साहित्य राजनीति और आदर्शवाद के अन्तर्गत आ जाता है। आज दुनिया का अधिकांश साहित्य इसी प्रकार का है। मैं तो यह मानता हूं कि साहित्य युग का निर्माता है। यह ठीक है कि साहित्यकार वर्तमान परिस्थितियों और प्रचलित विश्वासों से ऊपर नही उठ सकता। वह जो कुछ लिखेगा उसमें ऊपरी तौर से देखने पर युग का प्रतिनिधित्व झलक सकता है, पर साहित्यकार अपने साहित्य में अपनी आन्तरिक भावना के शाश्वत सत्य को आरोपित करता है और व्यक्तित्व के इस निक्षेप में ही वह सुख प्राप्त करता है। इस प्रकार का साहित्य ही महान एवं अमर हो सकता है।

अभिजात और सामान्य

रामविलास शर्मा

बात साहित्यिक सीमा-रेखाओं की है जो समाज की सीमाओं और रेखाओं से भिन्न होती है। जैसे अभिजात की सीमा लीजिए। समाज में अभिजात कौन है? अभिजात वह है जिसका जन्म ऊंचे कुल, जाति या परिवार में हुआ हो। अभिजात शब्द में जो 'जात' शब्द जुड़ा हुआ है, वही बतला रहा है कि उसका सम्बन्ध जन्म से है। पुराने ज़माने में कुलीनता का बड़ा मान था। मनुष्य की कद्र उसके गुणों से बढ़ कर उसकी जाति और जन्म के कारण होती थी। यह हालत हमारे देश में ही नहीं, यूरोप में भी थी। समाज में जब द्रव्य का महत्व बढ़ा तब पैसा पैदा करने वालों का सम्मान होने लगा, चाहे ऊंचे कुल में पैदा हुआ हो, चाहे नीचे कुल में, पैसा है तो इज़्ज़त है। इसीलिए संस्कृत कवि ने कहा था—यस्यास्ति वितं स नरः कुलीनः। पैसे ने अभिजात को खरीद लिया। आधुनिक सभ्यता में अभिजात वर्ग मिट नहीं गया, उसने नए आर्थिक आधार पर नया रूप धारण कर लिया है। शिक्षा, संस्कृति, विज्ञान के साधन अब भी बहुत कुछ इस औद्योगिक अभिजात वर्ग के पास हैं; सामान्य जन इन साधनों से दूर है। विशेषकर जिन देशों पर साम्राज्यवादी शासन रहा है, उनमें निरक्षरता और अज्ञान के कारण अभिजात और सामान्य के बीच का फ़ासला काफ़ी बड़ा है।

लेकिन समाज का आर्थिक धरातल छोड़ कर जब हम साहित्य की दुनिया में आते हैं, तब हम देखते हैं कि यहां अभिजात और सामान्य का सम्बन्ध बिलकुल दूसरा है। साहित्य के इतिहास में कुलीनता की पूछ नहीं है। यहां का अभिजात

वर्ग जन्म से नहीं कर्म से पूजा जाता है। अपने देश के दो-चार नए-पुराने महा-कवियों का स्मरण करते ही यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि इनके बड़प्पन का आधार किसी जाति या कुल में उनका जन्म नहीं है। धन, वैभव और सम्पत्ति से भी उनका विशेष सम्बन्ध नहीं है। कहते हैं कि वाल्मीकि पहले जंगल में डाका डाला करते थे। डाका डाला भी हो तो लगता है कि ज्यादा रकम उनके हाथ नहीं लगी। हम उन्हें ऋषि के रूप में जानते हैं, कुछ वल्कल वस्त्रों और कमण्डल आदि के सिवा उनके पास विशेष सम्पत्ति नही थी। उनके समय में आदर्श शासक रामचन्द्र राज्य करते थे किन्तु वाल्मीकि राजकवि नहीं हुए। राम के आश्रय में रहने का विचार भी उनके मन में न उठा, जंगल में रहते हुए राम की परित्यकता पत्नी सीता को उन्होंने स्वयं आश्रय ज़रूर दिया। कहते हैं कि कलियुग में वाल्मीकि ही तुलसी के रूप में उत्पन्न हुए। बात ठीक होगी क्योंकि जितनी सम्पदा 'रामायण' के लेखक वाल्मीकि के पास थी, शायद उससे भी कम 'रामचरित मानस' के लेखक तुलसीदास के पास थी। काशी के चोर भी निराश होकर लौट गए होंगे। कबीर, जायसी, सूरदास जैसे कवियों को किसी अभिजात गोष्ठी में बैठा दीजिए। दोस्तों का सारा मज़ा किरकिरा हो जाएगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पास सम्पदा ज़रूर थी लेकिन उन्होंने तय कर लिया था कि उगमे पिण्ड छुड़ा कर रहेंगे। और आज के युग में कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' उसी परम्परा के प्रतीक हैं।

समाज में आर्थिक दृष्टि से इन सब लोगों को सामान्य जनों में गिना जाएगा। लेकिन साहित्य में वे ऊंचे-ऊंचे अभिजात वर्ग के सदस्य हैं। आप कहेंगे कि कालिदास और भूषण को क्यों छोड़ दिया? उत्तर है कि इनका भी आदर इनकी सम्पत्ति के कारण नही है, इनका आदर है इनकी प्रतिभा के कारण। अर्थात् साहित्य के मन्दिर में चाहे उच्च कुल का व्यक्ति हो, चाहे निम्न कुल का, चाहे वह कालिदास और भूषण की तरह धन कमा सका हो, चाहे कबीर और तुलसी की तरह फ़कीरों का जीवन बिताता रहा हो, यदि उसके पास प्रतिभा है तो उसका सम्मान है वरना उसे कोई कौड़ी के मोल भी न पूछेगा।

अभिजात वर्ग के लोगों की एक विशेषता यह है कि उन्हें अपनी संस्कृति पर गर्व होता है, अपने आगे दूसरों को वे ज़रा कम गिनते हैं। चाहे सामाजिक अभिजात वर्ग हो, चाहे साहित्यिक अभिजात वर्ग हो, यह विशेषता दोनों में देखी जाती है। गरीबी में दिन काटने वाले कवियों या लेखकों में यह अभिजात-वर्गीय अहंकार कम नहीं होता। कहावत है कि रहें झोंपड़ियों में, ख्वाब देखें महलों

का। देखिए, अभिजात और सामान्य की सीमा-रेखाएं कैसे एक-दूसरे को छू रही हैं। तन से गरीब हैं, लेकिन मन से बादशाह है।

मेरी समझ में हर बड़ा साहित्यकार स्वभाव से अभिजात होता है। सम्पत्ति पर गर्व करने वालों को वह कुछ समझता नहीं। दूसरे प्रतिभाशाली कवियों और लेखकों का लोहा भी वह मुश्किल से मानता है। साथ ही बहुत जल्दी पिघलता भी है। भावुक जो होता है। छोटे बच्चे उसे वश में कर लेते हैं। आदेश में आकर वह अपने भक्त को सर्वस्व तक देने को तैयार हो जाता है। उसमें एक ओर ऊंचे अभिजात की कठोरता होगी। संस्कृत के महान नाटककार भवभूति करुण रस के अद्वितीय कवि थे। उनके हृदय में इतनी करुणा थी कि वह करुण रस को सब रसों में बड़ा मानते थे। उनका विचार था कि और सब रस इसी करुण रस से उत्पन्न हुए हैं। एक ओर तो इतनी करुणा कि पत्थर को भी पिघला दे, दूसरी ओर इतना अहंकार कि देश में आसपास उन्हें कोई ऐसा व्यक्ति दिखाई ही न दिया जो उनके साहित्य की गहराइयों तक पहुंच सके। उनकी यह गर्वोक्ति प्रसिद्ध है—"उत्पत्स्यते-ऽस्ति मम कोऽपि समान धर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।" उनका समान धर्म या तो आगे चल कर कभी जन्म लेगा या विशाल पृथ्वी के विस्तार में कहीं अज्ञात पड़ा होगा।

लोग कहते हैं संसार नाशवान है। यहां जो आता है उसे यहां से जाना होता है। इस नाशवान संसार में कवि अमर होता है। मरता वह भी है लेकिन मरने के बाद अमर हो जाता है। जीवित रहते ही उसे भरोसा हो जाए कि वह अमर है तो उसके अहंकार का पूछना ही क्या? किसकी मजाल है कि ज़रा भी उसकी नुक्ताचीनी करे? तुलसीदास ने सारे संसार की वन्दना की, कहा कि जग सिया-राममय है, इसलिए उसे प्रणाम करता हूं। लेकिन इस संसार से उन्होंने अपने आलोचकों को निकाल दिया था। जो उनके काव्य की बुराई करे, उसके लिए उन्होंने लिखा था "काक कहहिं कल कंठ कठोरा।" अर्थात् महाकवि तो हुए कोयल, उनके आलोचक हुए कौवे।

कभी-कभी अभिजात स्वभाव के ये साहित्यकार अपने दोषों को भी खूब उछालते हैं, रस लेकर उनका वर्णन करते हैं। ग़ालिब ने अपनी ज़बान की ख़ूबी, अपने दार्शनिक विचारों की उड़ान के बारे में अपने मुंह क्या कुछ नहीं कहा।

ये मसायले तसव्वफ़ ये तेरा बयान ग़ालिब
तुझे हम वली समझते जो न बादाख़्वार होता।

—शराब पीते थे, यही दोष था; वरना वली होने मे कसर ही क्या थी! तसव्वफ़ और बयान की खूबी में कोई उनकी टक्कर का न था। ऐसे ऊचे ख़याल महाकवि ग़ालिब के खुद अपने बारे मे थे।

किसी महान् साहित्यकार के स्वभाव मे सामान्य और अभिजात की सीमाए जब इस तरह एक-दूसरी से मिलती हों तब यह आशा की जा सकती है कि उसकी रचना मे, उसकी कलाकृति मे भी इन दोनों विशेषताओं का समन्वय होगा। साहित्यकार अपनी रचना के लिए जो सामग्री बटोरता है वह उसे सामान्य जीवन से ही मिलती है। साहित्य में सामान्यता का यह गुण न हो, तो वह लोकप्रिय कैसे हो? कवि को अमर कौन बनाता है? संसार से विदा होने पर उसकी अमरता का आधार क्या होता है? साहित्यकार को अमर बनाते है उसके पाठक। उसकी अमरता का आधार होना है, जनता का हृदय। इसीलिए रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था कि लोकहृदय मे लीन होने की दशा का नाम ही रसदशा है। जो जितना ही डूबा, वह उतनी ही ऊंचाई तक उठा। "अनबूडे बूड़े, तरे जे बूडे सब अग।"—बिहारी की यह बात सही है। साहित्य-रचना ऐसा चमत्कार है कि जो शिखर पर चढ़ कर ऊचा होना चाहता है, वह धूल मे मिल जाता है और जो सामान्यता मे डूब जाता है, वह शिखर पर अपना स्थान बना लेता है।

आप कह सकते है कि सामान्यता मे इतना बड़ा गुण है तो हर सामान्य व्यक्ति बड़ा साहित्यकार क्यों नही हो जाता? यह आपत्ति सही है। सामान्य होने से ही कोई साहित्यकार नही हो जाता। यह अच्छा ही है वरना ससार मे हर आदमी कवि और लेखक हो जाता, उनकी रचनाए पढ़ता कौन? सारी अमरता खाक हो जाती। बात दरअसल यह है कि सामान्यता की गहराई का पता लगाना, उसकी थाह लेना सामान्य आदमी का काम नही है। सामान्य जीवन अणु को तरह है, देखने मे बहुत छोटा, या इतना छोटा कि दिखाई ही न दे। लेकिन उसमे कितनी बड़ी शक्ति छिपी हुई है? यह शक्ति विनाश भी करती है, रचना भी। इसी से धान के खेत लहलहाते है, इसी से भूचाल आते है। लोकहृदय की इस शक्ति को हर बड़ा साहित्यकार पहचानता है। यही उसकी अभिजात-विशेषता है। इसी पहचान के बल पर वह सामान्य जनों से ऊपर उठता है। इसीलिए उसकी रचना मे अथाह सौन्दर्य होता है। विद्यापति के शब्दों मे—"जनम अवधि हम रूप निहारिनु नयन न तिरपित भेल।" साधारण को असाधारण बनाना, सामान्य को अभिजात का रूप देना—यह साहित्यकार का कौशल है।

नैतिक और अनैतिक

रामचन्द्र टण्डन

भारत में कला एक साधना मानी गई है, और कला का क्षेत्र अगम नहीं तो दुर्गम अवश्य है। यहां हमें अनेक राहें मिलेंगी। कुछ राहें ऐसी भी मिलेंगी जो हमें मुदे हुए पथों तक ले जाकर वापस लौटने पर विवश करती हैं। राह में मिलने वाले राही तर्क-वितर्क, वाद-विवाद और शंकाएं उठाने वाले भी होते है, और साधक को सजग रहना पड़ता है। पिछले पचास-साठ वर्षो में पाश्चात्य जगत् मे न जाने कितने कला-सम्बन्धी सिद्धान्त प्रचलित हुए है और उनके कारण आज कला की परिभाषा स्थिर कर सकना भी कठिन हो गया है। फिर भी कला के वास्तविक रूप को समझे बिना आगे बढ़ा नही जा सकता, और हमें कला के उद्देश्य को निर्धारित करना होगा, उसकी परिभाषा निश्चित करनी होगी। मुझसे यदि पूछा जाए तो मै मोटे ढंग से कहूंगा कि कल्याण-हेतु लेते हुए सौन्दर्य की सर्जना ही कला है। कुछ कलाकारों तथा समीक्षकों की दृष्टि में "कल्याण-हेतु लेते हुए" इतना अंश कदाचित् अनावश्यक जान पड़े। उनकी दृष्टि में हेतु-विशेष बिना ही सौन्दर्य का सृजन कला के रूप मे स्वीकार्य होगा। यदि सौन्दर्य के विषय में सभी लोगों की कल्पना एक प्रकार की हो तो कल्याण-हेतु पर बल देने की कदाचित् आवश्यकता न हो। किन्तु सौन्दर्य क्या है, इस बात पर मतैक्य प्राप्त करना सहज नहीं। इसलिए कल्याण-हेतु के बिना सौन्दर्य की सर्जना को कला की परिभाषा के रूप में मानना उचित नही प्रतीत होता।

भारतीय कलाकार का ध्येय तो प्रकृति से सौन्दर्य-संचय करना मात्र नहीं रहा है। उसका ध्येय इससे कहीं विस्तृत, कहीं विशाल रहा है। उसका ध्येय

प्रकृति से 'पुरुष' के रहस्य को प्रकट करना रहा है। उसकी धारणा रही है कि 'पुरुष' के रहस्य उद्घाटित हो जाएं तो सौन्दर्य की प्राप्ति अपने आप हो जाती है। उसकी धारणा रही है कि प्रकृति में अवस्थित दिव्य शक्ति की अनुभूति प्राप्त कर ली जाए तो प्रकृति, जो समस्त रूप से सौन्दर्यपूर्ण है, अपना सौन्दर्य खोल कर बिखेर देती है। सौन्दर्य का सहज सम्बन्ध आत्मा से है, उपादानों से नहीं।

डा० आनन्दकुमार स्वामी का यह कथन भारतीय चिन्ताधारा के अनुकूल ही है कि कला केवल सौन्दर्यबोध के लिए नहीं है, उसमें 'वाग्मिता' होनी चाहिए। सौन्दर्य के तत्व में पैठने से जो उल्लास, जो आनन्द प्राप्त होता है, कला उसका व्यक्त रूप है। जब कला के सम्बन्ध में हमारे यहां ऐसी उदात्त भावना पोषित हुई हो, तब उसके सम्बन्ध में नैतिकता या अनैतिकता का विचार एक छोटी-सी बात जान पड़ती है। लोक या समाज के कल्याण के लिए उचित ठहराए हुए आचार-व्यवहार को नीति कहते है। भारतीय कला ने अपने परम उत्कर्ष में, लोकोत्तर आनन्द को अपना ध्येय माना है और उस स्तर पर उसके नैतिक-अनैतिक होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

किन्तु, कला अपने उदात्त अर्थ में आज सर्वथा ग्रहण नहीं की जाती। अंग्रेज़ी कलाकार और समीक्षक हरिक गिल ने, जो आनन्दकुमार स्वामी के उपर्युक्त कथन से सहमत थे, एक स्थल पर खेद प्रकट किया है कि चित्रकारों, मूर्तिकारों और संगीतज्ञों की कृतियों के प्रति आधुनिक संसार चाहे जैसी चाटु-कारितापूर्ण सराहना प्रदर्शित करता हो, आज 'कला' शब्द एक पवित्र शब्द नहीं रह गया है। साहित्यिक और उच्च वर्गों में कला ललित कला के अर्थ में ग्रहण की गई है और ललित कलाओं में अब 'वाग्मिता' का ह्रास दिखता है, केवल सौन्दर्य पर आग्रह रह गया है, और इसके परिणामस्वरूप, हम चाहे जितने सुसंस्कृत क्यों न हों, हमारे आमोद-प्रमोद चाहे जितने परिष्कृत क्यों न हों, हम 'कला' शब्द को पवित्रता से या पवित्रता को कला से नहीं जोड़ पाते। इस स्तर पर और इस स्थिति में कला के विषय में स्वभावतः नैतिक अथवा अनैतिक होने का प्रश्न उठता है।

और साथ ही यह प्रश्न भी उठता है कि कलाकार को अपनी प्रेरणा कहां से प्राप्त करनी चाहिए? उसका उद्देश्य क्या होना चाहिए? क्या उसे एकमात्र सौन्दर्य-सृजन पर अपनी शक्ति केन्द्रित करनी चाहिए और इस विचार को बिलकुल ध्यान में न लाना चाहिए कि उसकी कृति, देखने वाले को सदाचार,

नीति, कल्याण के मार्ग पर ले जाती है, अथवा उसको कोई नैतिक ध्येय सामने रखते हुए अपने सौन्दर्य-सृजन के कार्य में लगना चाहिए? दूसरे शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है—क्या कला को सोद्देश्य होना चाहिए अथवा केवल कला के लिए? कला कला के लिए हो अथवा सोद्देश्य और प्रचार के लिए—इस बात को ले कर बहुत से विवाद चले हैं और अब भी चल रहे हैं।

दोनों पक्षों का तर्क समझने का प्रयत्न किया जाए तो तर्क इस रूप में चलता हुआ दिखेगा। "कला कला के लिए" पक्ष वालों का तर्क होगा कि कलाकार स्वतन्त्र इच्छा से अपना कार्य करता है। जो कुछ वह देखता है, अनुभव करता है, कल्पना करता है, उसे वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा के प्रकाश में व्यक्त करता है। उसकी स्वतन्त्रता में बाधा नहीं होनी चाहिए। उसका उद्देश्य कलाकृति प्रस्तुत करना होता है और इसके अतिरिक्त न उसका कोई ध्येय होता है, न होना चाहिए। प्रचारक का ध्येय इससे भिन्न होता है। उसका ध्येय किसी योजना, किसी सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाना होता है। प्रचारक कलाकार की अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं होती, वह किन्हीं बंधे हुए विचारों से आगे नहीं बढ़ सकता। उसे अपने स्वामी अथवा स्वामियों के दिए हुए निर्देशों के अनुसार काम करना पड़ता है, वह उन निदशों का तिरस्कार करने का साहस नहीं कर सकता। सच्चा कलाकार एक स्वतन्त्र व्यक्ति है। प्रचारक स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं है। कलाकार अपनी ही इच्छा का गुलाम हो सकता है, किन्तु प्रचारक एक निर्धारित योजना का गुलाम है। प्रचारक कला की सृष्टि नहीं कर सकता और न कलाकार प्रचार-कार्य।

इस प्रकार "कला कला के लिए" मत वालों की दृष्टि में कला के क्षेत्र में नैतिक अथवा अनैतिक का प्रसंग उठता ही नहीं। दूसरा पक्ष, जो नैतिकता को मूल्य देता है, कुछ इस प्रकार तर्क करेगा। वह कहेगा कि "कला कला के लिए" इस मत का व्यक्ति वस्तुस्थिति का सामना करने से डरता है। परस्पर विरोधी अनेक धर्मों तथा दर्शनों के समक्ष आने पर अपना मत स्थिर न कर सकने की दशा में इस प्रकार का कलाकार पलायनवादी मनोवृत्ति से अपनी चित्रशाला में पैठ रहता है और "रंगों की झलक", "आकारों की परस्पर सम्बद्धता" आदि पचड़ों में अपने को डाल कर तात्पर्य या अर्थ को भूल जाता है, और उसे अपनी कला प्रचार से असम्बद्ध दिखने लगती है—यहां तक कि कला और प्रचार उसके लिए परस्पर असंगत शब्द हो जाते हैं, और यदि कला को हेयता की ओर संकेत करना होता है तो कहा जाता है कि यह तो प्रचारात्मक है। वस्तुतः

सारी कलाएं प्रचारात्मक हैं, क्योंकि किसी वस्तु का बनाना, सृजन करना असम्भव है, जब तक कि वह किसी 'मूल्य' को व्यक्त न करती हो। कलाकार भले ही कहे कि उसे इस बात की परवाह नहीं कि कोई उसकी कृति को पसन्द करता है अथवा नहीं, उसका कोई प्रभाव पड़ता है या नहीं, लेकिन ज्यों ही वह अपनी कृति किसी को दिखाता है, विशेषकर जब उसका सार्वजनिक प्रदर्शन करता है, त्यों ही वह उन 'मूल्यों' का प्रचारक बन जाता है जो उसकी कृति में हों। इससे बचने का कोई उसके लिए उपाय नहीं। वह ज़िम्मेदारी से बच नहीं सकता, उसे बरबस प्रचारक बनना पड़ता है। इसलिए इस दूसरे पक्ष वालों का कहना है कि समस्त कला प्रचार के लिए है, वह चाहे किसी धर्म या विचार का प्रचार हो, अथवा कला-सम्बन्धी किन्हीं विशेष मूल्यों का। और जिनके मत में कला प्रचार है, उनके लिए कला की नैतिकता अथवा अनैतिकता का प्रश्न स्वभावतः सामने आता है। कला सोद्देश्य हो जाती है। और यह उद्देश्य भला होना चाहिए, जिसके पक्ष में कोई सन्देह नहीं रहता।

कला द्वारा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होनी चाहिए—यह विचार सर्वथा मान्य है; साथ ही कला सोद्देश्य होने से बच नहीं सकती, यह भी स्पष्ट जान पड़ता है। और जब कला सोद्देश्य हो, तब उसकी नैतिकता अथवा अनैतिकता पर विचार करना पड़ता है। "कला कला के लिए" पक्ष के समर्थक कला को केवल शब्दजाल में मढ़ कर छोड़े देते हैं।

सौन्दर्य क्या है? यह भी विचारणीय है। एक ही वस्तु को एक दर्शक सुन्दर और दूसरा विकृत समझ सकता है, यह साधारण अनुभव है। जैसा पहले कहा है, सौन्दर्य का सहज सम्बन्ध बाह्य उपादानों से न मान कर आत्मा से माना जाए तो हमारे प्राचीन कलादर्शों के सर्वथा अनुकूल होगा। तब ऐसी समस्या उत्पन्न नहीं होती। कला ऐसी परिस्थिति में उद्देश्यपरक ही नही, महान् उद्देश्य-परक हो जाती है।

एक दूसरे ही सन्दर्भ में कभी-कभी कला में नैतिक तथा अनैतिक का प्रश्न उठा करता है। श्लील तथा अश्लील के अर्थ में नग्न मूर्तियों का निर्माण क्या यूरोप में और क्या हमारे यहां हज़ारों वर्षों से होता रहा है और इसे बुरा नहीं समझा गया है। चाहे अवयवों के सौष्ठव के प्रदर्शन की दृष्टि से हो अथवा प्रतीक रूप में, ऐसी प्रतिमाओं में अनेक विशिष्ट कलाकृतियां समझी गई हैं। रोदां की प्रसिद्ध कृति 'वसन्त' में प्रदर्शित आलिंगन को कौन कुत्सित कहने की धृष्टता कर सकता है? अपने यहां मध्ययुग में, तान्त्रिक प्रभावों के अन्तर्गत बनी अनेकानेक

मूर्तियों में न केवल नग्न मूर्तियां बनी हैं वरन् मान्मथ दृश्य अंकित हुए हैं। ये दृश्य कोरे गए हैं उस काल के विशाल मन्दिरों में, उड़ीसा में पुरी, और भुवनेश्वर तथा कोणार्क में। उत्तर भारत में ऐसे दृश्य खजुराहो के मन्दिरों में भी मिलते हैं। इन कृतियों को समाज-कल्याण की दृष्टि से अच्छा या बुरा कहा जाए, इस पर विवाद रहा है। ये कृतियां कुछ लोगों की दृष्टि में भ्रष्ट और अनैतिक हैं। अन्य कला-पारखियों की दृष्टि में ये कला की अनुपम कृतियां हैं। आपत्ति जो है वह इन चित्रों के विषय के सम्बन्ध में है। मैं इस समय खजुराहो की मूर्तियों को दृष्टि में रखते हुए कह रहा हूं। कोरने की कला की दृष्टि से ये कृतियां निस्सन्देह बेजोड़ हैं। जिन दृश्यों पर आपत्ति की जाती है वे मन्दिरों की बाहरी भित्ति पर कटि भाग के ऊपर बने हैं। भीतर तो आराधना के लिए प्रतिष्ठित पावन मूर्तियां हैं, बाहर सभी प्रकार की मान्मथ और रति-विषयक भाव-भंगिमाओं और मुद्राओं का प्रदर्शन करने वाली मूर्तियां हैं। पवित्र देवालयों पर इन मूर्तियों की साहम के साथ प्रतिष्ठा, हमें विचार में डालने वाली चीज़ है। हमें प्रत्येक कलाकृति को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जांचना चाहिए। इन विशाल मन्दिरों के निर्माता कामुक व्यक्ति नहीं थे, धर्मपरायण व्यक्ति थे। इन मूर्तियों को कुत्सित और अनैतिक ठहराने से पहले थोड़ा-सा विचार करने की और उनका उद्देश्य समझने की आवश्यकता है। हमें समझना चाहिए कि ये दृश्य पवित्र देवालयों पर निरुद्देश्य नहीं कोरे गए होंगे। क्या यह मिथुन-सृष्टि, सृजन-कार्य का प्रतीक हो सकती है? हमारे यहां छान्दोग्योपनिषद् में मिथुन मिलन की उपमा पवित्र 'ओं' से दी गई है—"तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे संसृज्यते।" इन कृतियों को संकेत करके यह भी कहा गया है कि बाहर का दृश्य पुंजीभूत रूप 'संसार' का प्रतीक है। भीतर की देव-प्रतिमा अध्यात्म अथवा धर्म का प्रतीक है। मुझे तो शृंगारी कवि का एक दोहा स्मरण होता है—

मानहुं विधि तन अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोंछन को दिए भूषन पायन्दाज॥

क्या ये दृश्य वे पायन्दाज़ हैं जिनमें दृग-पग पोंछ कर दर्शनार्थी पवित्र देव-प्रतिमा के दर्शन का अधिकारी बनता है?

अन्तःप्रेरणा और पलायन

धर्मवीर भारती

कलाकृति, चाहे वह शब्दों में हो या संगीतात्मक ध्वनियों में, चाहे रंगों और रेखाओं में हो या स्थापत्य में....किन्तु उससे कलाकार के अन्तर्जगत का निकटतम सम्बन्ध रहता है। प्रत्येक कविता या चित्र या गीत का उद्‌गम कलाकार के मानस से होता है इसमें कोई सन्देह नही है। वे, जो कला को या तो दैवी शक्तियों या सामाजिक शक्तियों द्वारा उद्‌भूत मानते रहे हैं, वे भी इतना तो मानते ही हैं कि ये शक्तियां भी मनुष्य के अन्तर्जगत में संस्कार या अवतरण या अन्य किसी रूप में पहले प्रतिष्ठित होती है और तभी उसकी रचना-प्रक्रिया को प्रभावित कर पाती है और कलाकार के अन्तर्जगत में घटित होने वाली इस रचना प्रक्रिया का मूल अन्तःप्रेरणा है। जब तक कलाकार में अन्तःप्रेरणा नहीं जागती तब तक वह सजीव कलाकृति नही प्रस्तुत कर पाता।

इस अन्तःप्रेरणा का मूल स्रोत और प्रकृति इतनी जटिल और गूढ़ है कि आदिकाल से अधिकांश विचारक इसके विश्लेषण से बचते ही आए है। आदि-काल और मध्यकाल में समस्त कला समीक्षा अन्ततोगत्वा इस अन्तःप्रेरणा को मानवोपरि दैवी स्तरों से सम्बद्ध कर देती थी। सरस्वती, या कोई भी अन्य बुद्धि या कला का देवता मनुष्यों के हृदय में अपनी एक किरण प्रेरणा के रूप में उद्‌भासित कर देता है और उस समय सृजनकर्ता कलाकार मात्र माध्यम रह जाता है, शैवों की यह कल्पना कि समस्त शब्द और ध्वनियां अन्ततोगत्वा शिव के डमरू से उत्पन्न हुई है, तान्त्रिकों की यह कल्पना कि समस्त अक्षर बीजाक्षर

है और दैवी शक्तियों से सम्पन्न है, वैष्णवों की यह कल्पना कि प्रभु की लीला का गायन करने वाला प्रत्येक कवि किसी न किसी अंश में उनकी वंशी का अवतार है जिसमें फूंक या अन्तःप्रेरणा दैवी शक्ति से जाग्रत होती है...यहां तक कि जयदेव का अधूरा श्लोक स्वतः कृष्ण आकर पूरा कर देते हैं...ये सारी कल्पनाएं इसी एक मूल तत्व पर आधारित हैं कि कलाकृति की प्रबलतम अन्तःप्रेरणा जो अधिकतर मनुष्य की सचेतन मानसिक शक्तियों का, वातावरण का अतिक्रमण कर जाती हैं...उसका ठीक-ठीक निदान मध्यकालीन चिन्तक मानवीय मनोविज्ञान में नहीं खोज पाते हैं। वर्तमान युग में किसी-न-किसी रूप में यह विचारधारा वर्तमान है। अरविन्द ने अपने एक पत्र में कहा है—"कवि के उच्चतम या सर्वाधिक मुक्त क्षणों में, वह अपने बाह्य सचेत मानस द्वारा नहीं लिखता, वरन् अन्तःप्रेरणा से देवताओं के प्रवक्ता की भांति लिखता है।"

दैवी प्रेरणा की बात सर्वमान्य नहीं है, किन्तु इतना तो स्वतः कलाकारों की साक्षी से ज्ञात है कि उनकी अन्तःप्रेरणा मन के सचेत स्तरों की अपेक्षा उनके अवचेतन या अर्द्धचेतन स्तरों पर जाग्रत होती है। अक्सर वे अपने व्यावहारिक दैनिक जीवन के किसी अत्यन्त शुष्क नीरस व्यापार में संलग्न रहते हैं पर उनके मन के गहन स्तरों में कुछ और ही घटित होता रहता है, और जब उसका विस्फोट होता है तब उनका सचेत मानस विवश हो जाता है, उनके हाथ से जैसे भाव प्रक्रिया के सूत्र छूट जाते हैं और जैसे स्वतः प्रेरित कलाकृति उनकी समस्त कल्पना, बुद्धि, ज्ञान को सहायक उपादान बना कर अपने को अभिव्यक्त कर डालती है और उस समय कलाकार का बाह्य व्यक्तित्व इतना विवश हो जाता है कि जैसा डी० एच० लारेन्स ने अपनी कृतियों के बारे में कहा—"घटनाओं की तरह कृति भी घटित हो जाती है और मैं खड़ा देखता रह जाता हूं।"

वर्तमान काल में जो विशिष्ट विचारधाराएं विकसित हुई, जिन्होंने कला की प्रकृति को व्यापक पृष्ठभूमि में समझने का प्रयास किया और जिनसे आधुनिक कला-समीक्षा सबसे अधिक प्रभावित हुई, उनमें मार्क्सवाद और फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धान्त सर्वप्रमुख हैं। मार्क्स ने कलाकार की समाज सापेक्ष स्थिति पर और कलाकृति की सामाजिक उपयोगिता पर अधिक ध्यान दिया और अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर इस ओर विशेष संकेत किया कि कला-सृजन सामाजिक शक्तियों से प्रभावित होता है।

अन्ततोगत्वा वह सृजन व्यक्ति के द्वारा होता है; उसके जटिल, गहन, अनेक स्तरों वाले अन्तर्जगत से उद्भूत होता है...यदि वह व्यक्ति और उसका वह जटिल अन्तर्जगत न हो तो सृष्टि के आदि से लेकर आज तक की समस्त सामाजिक शक्तियां और राजसत्ताएं महान कविता की एक भी पंक्ति या एक भी सप्राण या सजीव चित्र नही रच सकती थी। समस्त मार्क्सीय कला-समीक्षा का विकास इसी कारण एकांगी होता गया और कलाकार की अन्तःप्रेरणा और उसकी जटिल प्रकृति न समझ पाने के कारण उसके निर्णय अधिकतर मिथ्या या सतही सिद्ध होते रहे। काडवेल एकमात्र ऐसा समीक्षक था जिसने काव्य-सृजन की प्रकृति को गहराई से समझने का प्रयास किया और उस दिशा में जब केवल सामाजिक शक्तियां अन्तःप्रेरणा की व्याख्या नहीं कर पाई, तब उसे नैसर्गिक प्रवृत्तियों के सिद्धान्त का आश्रय लेना पड़ा। आज मार्क्सीय शिविर में ही काडवेल के सिद्धान्तों को इसी कारण मार्क्स-विरोधी कहा जाने लगा है और मारिस कार्नफोर्थ के नेतृत्व में नए ब्रिटिश मार्क्सवादी विचारकों ने काडवेल की तीव्रतम आलोचना की है। वे मानते हैं कि काडवेल फ्रायड का विरोध करते-करते उसी के सिद्धान्तों को संशोधित रूप में अपना लेता है।

जहां तक फ्रायड का प्रश्न है कला-सृजन के सम्बन्ध मे उसकी मान्यताएं भी एकांगी सिद्ध हो चुकी हैं। उसने यह माना था कि मनुष्य का अवचेतन जगत उसकी दमित इच्छाओं का सुरक्षित कोष है जहां से वे अज्ञात रूप में, छिप कर मनुष्य के समस्त व्यवहारों को, उसके सृजन को प्रभावित करती है। उसने अपने उसी सिद्धान्त द्वारा मनुष्य के स्वप्नों की नई व्याख्या देने का प्रयास किया और कविता या चित्र को मनुष्य की स्वप्न प्रवृत्ति का ही एक प्रक्षेपण माना। साथ ही उसने अन्तर्जगत में दमित आकांक्षाओं के कारण बनी हुई ग्रन्थियों से कलाकार की अन्तःप्रेरणा का सम्बन्ध जोड़ा और कल्पना-शक्ति के द्वारा, अन्तर्जगत किस प्रकार भावनाओं की अभिव्यक्ति ऐसे नए प्रतीकों द्वारा करता है जो मूल दमित वासनाओं से सम्बद्ध रूपाकृतियों को व्यंजित भी करते हैं और छिपाते भी है, इसका एक विस्तृत विवेचन भी प्रस्तुत किया। किन्तु उसने मूलतया लेखक या कलाकार को एक रुग्ण मानस वाला व्यक्तित्व माना और अपने चिकित्सालय में आने वाले अन्य रोगियों की भांति उसका भी विश्लेषण किया। निस्सन्देह एक कला-रसिक का दृष्टिकोण नहीं था। इसी कारण उसके विश्लेषण में भी कला की अन्तःप्रेरणा की

व्याख्या कई दिशाओं में वैसी ही एकांगी हो गई जैसी मार्क्स की व्याख्या। फ्रायड यह भूल गया कि रुग्ण मानस वाला एक कलाकार भी कला-सृजन के क्षणों में एक दूसरा व्यक्ति हो जाता है। वैसे फ्रायड को भी अक्सर यह आभास होता रहा है कि अन्तःप्रेरणा और उसके स्रोत के विषय मे उसका सिद्धान्त कभी-कभी महानतम कलाकृतियों के विश्लेषण में पूर्णतया सफल सिद्ध नही हुआ है। दास्तोवस्की पर लिखे गए अपने निबन्ध में उसने इसे स्वीकार भी किया है।

आधुनिक मनस्तत्ववेत्ता सी० जी० युंग ने फ्रायड के इस सिद्धान्त की असंगति का तर्कपूर्ण विवेचन किया है। उनका यह कथन है कि फ्रायड की सारी स्थापनाएं कलाकार के व्यक्तित्व पर लागू हो सकती है किन्तु उसका कला-व्यक्तित्व सर्वथा वही नही होता। साथ ही फ्रायड की मनोविश्लेषण पद्धति व्यक्ति के मनस्तत्व पर लागू हो सकती है किन्तु जो कलाकृति उससे उद्भूत होती है वह अपने में एक स्वतन्त्र वस्तु होती है। युंग यह भी मानता है कि उस कलाकृति की सफलता और महानता ही इस पर आधारित होती है कि वह कृति कहां तक अपने सृजनकर्ता के निजी जीवन की सीमाओं और परिधियों का अतिक्रमण कर गई है। ऐसी दशा में वह कलाकार के द्विविधा रूप मानता है। एक रूप में वह एक साधारण मनुष्य होता है जिसके निजी सुख-दुःख, कुण्ठाएं-आकांक्षाएं हो सकती हैं; दूसरे रूप में वह एक निर्वैयक्तिक रचना प्रक्रिया का विधायक मात्र होता है। युंग का यह मत साधारणीकरण के भारतीय सिद्धान्त के कितना निकट आ जाता है, इसकी विवेचना अत्यन्त रोचक हो सकती है। युंग तो कला के इस स्तर पर निर्वैयक्तिकता का इतना प्रबल समर्थक है कि वह कहता है—"कला का सृजन करने वाला कोई ऐसा व्यक्ति नही होता जो अपनी इच्छानुसार कला का उपयोग अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए करता है, बल्कि वह कला के आशयों का साक्षात्कार अपने माध्यम से होने देता है।"

आप यह पूछ सकते हैं कि क्या आप तर्क करते-करते एक गोल चक्कर में नहीं घूम गए? शायद यह बात सच है। हमने प्रारम्भ में ही यह माना कि अन्तःप्रेरणा कलाकार के सचेतन व्यक्तित्व के वश में नहीं है, पर वह दैवी शक्ति से उद्भूत है, यह एक अवैज्ञानिक मत है पर मानवीय मनोविज्ञान के शास्त्रज्ञ भी अन्ततोगत्वा इसी मत पर पहुंचते हैं कि यह कला की अन्तःप्रेरणा उसके निजी वैयक्तिक सचेत भाव-प्रक्रिया की सीमा के बाहर की वस्तु है। तो

प्रश्न फिर उठता है कि क्या वह किसी मानवोपरि दैवी शक्ति या रहस्यमय अज्ञात प्रक्रिया का अंग है? इस विषय में मैं एक अत्यन्त प्रख्यात आधुनिक फ्रांसीसी कलाकार जां काक्त्यों का एक वक्तव्य देना चाहूंगा। वह कहता है—"कभी-कभी लोग कला की अन्तःप्रेरणा के बारे में सर्वथा भ्रान्त धारणा बना लेते हैं, लगभग धार्मिक विश्वासों की-सी। किन्तु मैं यह नहीं मानता कि कला की अन्तःप्रेरणा हमें आकाश से मिलती है। मैं समझता हूं कि हममें एक उपेक्षा या असमर्थता की भावना होती है जिसके कारण हम अपने अन्तर्जगत की कुछ शक्तियों को उपयोग में नहीं ला पाते। ये अज्ञात शक्तियां, हमारे दैनिक जीवन के तत्वों, उसके परिवेश और संवेगों से संयुक्त होकर हमारे अन्तस्तल के गहन स्तरों में कार्य करती हैं और हम उनके भार से आक्रांत हो उठते हैं और जब वे हमें अपनी निष्क्रियता की मनःस्थिति को जीतने के लिए विवश करती हैं...अर्थात् हमारे जाने बिना जब उन शक्तियों के कारण कलाकृति हमारे अन्तर्जगत में बन जाती है और प्रकट होने के लिए हमसे माध्यम मांगने लगती है...तब हम विश्वास करने लगते हैं कि यह कलाकृति किसी अज्ञात लोक से अवतरित हुई है।"

यहां पर जां काक्त्यों एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कहता है जिसे ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है—

"किन्तु यही वह क्षण है जब कलाकार की सचेतन भावना को, उसकी अवचेतना को पीछे छोड़कर, कला-सृजन के सूत्र अपने हाथ में ले लेने चाहिए। वह कलाकृति, जो अभी रूप नहीं ले पाई है, जो साकार होना चाहती है, उसे आकार देकर दूसरे तक प्रेषणीय बनाना...इसका साधन कलाकार अनिवार्यतः ढूंढता है।" मेरा विचार है कि अन्तःप्रेरणा और शिल्प चेतना का इस पूरी प्रक्रिया में क्या स्थान है, इसका अत्यन्त मार्मिक विवेचन इस कथन में हमें मिलता है।

अन्तःप्रेरणा के बाद प्रश्न उठता है पलायन का। वैसे तो यह स्पष्ट है कि कला-सृजन की प्रक्रिया में कलाकार अपने दैनिक व्यावहारिक जीवन के सामान्य व्यापार से पृथक एक दूसरे ही मानसिक धरातल पर प्रतिष्ठित होता है। इसे अक्सर यूं भी कहा गया है कि कला-सृजन के मूल में ही कलाकार की पलायन वृत्ति काम करती है, वह दैनिक यथार्थ से भागकर एक आदर्श कल्पनालोक का सृजन करता है। एक छोर पर अनुकरणावाद का सिद्धान्त है और दूसरे छोर पर यह सिद्धान्त। किन्तु इस पलायन वृत्ति वाले सिद्धान्त

का मूल तर्क वही फ्रायड वाला तर्क है कि कला-सृजन की प्रक्रिया वस्तुतः कलाकार की दमित इच्छाओं की पूर्ति की ओर प्रेरित है। उस सिद्धान्त की एकांगिता पर हम विचार कर ही चुके हैं। किन्तु पिछले दो-तीन दशकों से यह पलायन शब्द साहित्य के क्षेत्र में अवैज्ञानिक अर्ध-राजनीतिक निन्दा-वचन के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता रहा है और वह भी इस सीमा तक कि वैज्ञानिक कला समीक्षा के क्षेत्र में 'पलायन' का कोई भी अर्थ नहीं रह गया है। किसी-न-किसी अर्थ में बिना आत्मलीन हुए कविता का सृजन तो हो नहीं सकता है, अखबारी या व्यावसायिक या प्रचारात्मक चीज़ें भले ही लिख डाली जाएं। उस अर्थ में कला-सृजन का जो वास्तविक उत्स अपने अन्दर है, उस तक पहुंचने के लिए अगर कलाकार कभी निरर्थक और अनुपयोगी बाह्य औपचारिक यथार्थ से पलायन कर आत्मलीन होता है...तो वह तो उच्चस्तर के कला-सृजन की प्रथम और अनिवार्य शर्त है।

किन्तु हां, कला के क्षेत्र में पलायन का एक विशिष्ट रूप होता है और वह निस्सन्देह घातक है। जब अपनी अन्तःप्रेरणा का सामना नहीं कर पाता, जो कृति उसमें से उद्भूत होना चाहती है, उससे वह बाहर की ओर भागता है, कुछ आरोपित धारणाएं स्वीकार करता है, चाहे वह आर्थिक प्रलोभन के कारण हो, या राजनीतिक दबाव के कारण, या सस्ती लोकप्रियता के लोभ के कारण हो...उस समय वह अपनी अन्तःप्रेरणा से पलायन करता है, उससे विच्छिन्न हो जाता है, फलस्वरूप उसकी कृतियां झूठी पड़ने लगती हैं और उनका कलात्मक स्तर समाप्त हो जाता है। अपनी अन्तःप्रेरणा से भागने के बहुत से नए-नए रास्ते युग ने खोज निकाले हैं और मिथ्या कला-कृतियों को प्रश्रय भी मिलने के साधन आज के युग में जितने विविध और प्रचुर हैं उतने कभी नहीं थे। इस नए प्रकार के पलायन से बचना और अपनी अन्तःप्रेरणा का विशुद्ध माध्यम बने रहना यह कलाकार का विशेष दायित्व है, जिसके प्रति आज उसे सबसे अधिक जागरूक बने रहना है।

यथार्थ और उपयोगिता

विश्वनाथ नर्वणे

मानव जीवन के किसी भी क्षेत्र मे मापदण्ड स्थिर करना और आयाम निर्धारित करना उतना कठिन नही जितना कला के क्षेत्र मे। इसीलिए कला दर्शन की जमीन पर 'वादो' के वृक्ष बहुत जल्द पनपते है। आदर्शवाद और वास्तववाद, उपयोगितावाद और रहस्यवाद, व्यक्तिवाद और समाजवाद—इन सबके अरण्य मे साधारण कला-प्रेमी के लिए अपना मार्ग ढूढ निकालना दुष्कर हो जाता है ।

परन्तु बिना आयाम स्थिर किए विचारो का स्पष्टीकरण नही हो सकता। सीमाए अस्फुट हो तो मनुष्य का बौद्धिक समाधान नही होता। यही सही है कि विश्लेपणात्मक पद्धति से, व्यापक विपय को कई भागो मे बाट कर उनकी क्रमश परीक्षा करना कला के क्षेत्र मे पूर्णतया उपयुक्त नही है। जो पद्धति प्राकृतिक विज्ञानो मे सफल सिद्ध होती हे वह कभी-कभी आध्यात्मिक या कलात्मक विवेचन के लिए असफल रहती है । फिर भी तर्क क्रिया के लिए विश्लेषण अनिवार्य है। अत. उपयोग और यथार्थ की दृष्टि से कला के क्या आयाम है, इस व्यापक प्रश्न के विभिन्न अगो की हमे क्रमश. परीक्षा करनी पडेगी ।

सबसे पहले हमे इस बात पर ध्यान देना होगा कि उपयोगिता और यथार्थ ये दो अलग-अलग मापदण्ड है। आधुनिक काल मे ये एक-दूसरे के निकट आ गए है क्योकि इन दोनों के ऊपर भौतिकवादी दर्शन का प्रभाव पड़ा है।

शक्ति की धारा आवश्यकताओं के बांध को तोड़ कर सृजनात्मक कार्य में फूट पड़ती है ।

तात्पर्य यह कि कला का विस्तार उपयोग के प्रदेश तक ही सीमित रखना किसी दृष्टि से भी तर्कशुद्ध नहीं जान पड़ता । साथ ही साथ "कला के लिए कला" सिद्धान्त के अनुयायी यह कहते हैं कि सौन्दर्यानुभूति—व्यक्तित्व की अभिव्यंजना—तक ही कला का आयाम है, तब उनसे भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि हमने माना कि व्यक्तित्व प्रकाश तक ही कला सीमित है, पर क्या यह भी एक प्रकार का उपयोग नहीं ?

अब हम यथार्थ के प्रश्न की ओर मुड़ते हैं। यहां भी यदि हम पूरी समस्या की सर्वांगीण समीक्षा करें तो देखेंगे कि जो विरोध यथार्थ और आदर्श, वास्तविकता और काल्पनिकता में उठाया गया है वह उतना तीव्र नहीं है जितना ऊपर से लगता है । यथार्थवादी भी यह मानेंगे कि कोई भी कला केवल यथार्थ चित्रण तक ही सीमित नहीं रह सकती । कलाकार यथार्थ को ज्यों-का-त्यों नहीं रख देता, उसके व्यक्तित्व की छाप उस यथार्थ पर पड़ती है, स्मृति-चित्रों और संवेदनाओं को सांचे में ढाल कर यथार्थ को वह नए रूप में प्रस्तुत करता है । यदि ऐसा न हो तो चित्रकार के 'ब्रुश' और कैमरा के 'शटर' में कुछ भी अन्तर न रहे । साथ ही साथ यथार्थ से पूर्णतया असम्बद्ध कला की कल्पना ही स्वतः विरोधी है । मायावादी शंकराचार्य तक ने स्वीकार किया है कि विवर्त भी नितान्त अयथार्थ नहीं होता । जब रस्सी को हम सांप समझ बैठते हैं तो उस समय सांप की अयथार्थता के साथ रस्सी की यथार्थता भी सत्य है। कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में यदि यथार्थ न हो तो हम धोखा तक नहीं खा सकते । यथार्थ से सर्वथा अलिप्त कला अच्छी है या बुरी, यह प्रश्न तो बाद में उठता है। दार्शनिक दृष्टि से ऐसी कला का अस्तित्व ही संदिग्ध जान पड़ता है ।

इस तरह, कला का विस्तार निर्धारित करने से पहले, हमें 'यथार्थ' शब्द की ही सीमाएं स्पष्ट करनी होंगी । यदि यथार्थ का मतलब है केवल वे परिस्थितियां, परिवेश, वस्तुएं, व्यक्ति, घटनाएं इत्यादि जिनके बीच हमारा दैनन्दिन जीवन व्यतीत होता है, तो कभी-कभी कलाकार का इस यथार्थ से ऊब जाना या बेचैन हो जाना क्षम्य है। कठिनाई तो यही है कि विवाद के दोनों पक्षों में 'यथार्थ' संकुचित अर्थ में लिया जाता है । आदर्शवादी या रोमांटिक कलाकार कहता है—इस 'यथार्थ' में सौन्दर्यानुभूति, सृजन-प्रेरणा

नहीं मिलती इसलिए हम कला को एक काल्पनिक जगत में ले जाएंगे ।

इसके उत्तर में संकीर्ण यथार्थवादी कहता है—जो कुछ है, यही है । इससे पलायन करोगे तो तुम्हारी कला जीवित नहीं रहेगी ।

लेकिन प्रश्न यह है कि क्या यथार्थ का केवल एक ही स्तर हो सकता है ? क्या यथार्थ में निम्नतर और उच्चतर के भेद नही हो सकते ? क्या आदर्शों और स्वप्नों का जगत, बिलकुल ही अयथार्थ है ? एक आधुनिक लेखक के शब्दों में—कला के आयाम में सब्ज़ी मण्डी का भी समावेश करना चाहिए। इस यथार्थवाद को हम मान्य कह सकते है, परन्तु कला का विस्तार केवल सब्ज़ी मण्डी तक ही है, इस यथार्थवाद को हम स्वीकार नहीं कर सकते ।

इसीलिए कला के इतिहास में जिन्होंने यथार्थवाद का विरोध भी किया है, उनका अक्सर यह दावा रहा है कि उनकी कला यथार्थ से दूर नही वरन् उन्हें साधारण लोगों की अपेक्षा यथार्थ के अधिक निकट ले जाती है । पर्वतों और नदियों में, सामाजिक संघर्षों और आर्थिक व्यवस्थाओं में, निसर्ग में और सामाजिक जीवन में यथार्थ है । उसका प्रतिबिम्ब कला में सर्वदा मिला है और भविष्य में भी मिलेगा । परन्तु यथार्थ का एक स्तर ऐसा भी है जहां उपनिषद् के शब्दों में आंखें नहीं पहुंचतीं, न कान सुनते हैं, जहां जिह्वा चुप है, जहां से तर्कबुद्धि हताश लौटती है । महानतम कला हमें उस प्रदेश की वार्ता देती है जहां मामूली पर्यटक नहीं पहुंच पाते। उस प्रदेश की सत्ता को हम अयथार्थ कहेंगे या अधिक यथार्थ ? रवीन्द्रनाथ की ये पंक्तियां इसी प्रश्न की ओर संकेत करती हैं—

मन दिये जारे नागाल नाहि पाई
गान दिये तारे चरण छुएं जाई ।

(एक ऐसा 'वास्तव' है जहां का पता-ठिकाना मनःशक्ति से मुझे नहीं मिलता । पर जब मैं गीत गाता हूं तब सहज ही उसके चरण छू लेता हूं) ।

श्लील और अश्लील

डा० नामवर सिंह

श्लील और अश्लील की सीमारेखा पर इतना विवाद हुआ कि सीमा-रेखा के लुप्त होने का ख़तरा पैदा हो चला है। विवादों का नतीजा अक्सर ऐसा होता है, बल्कि कुछ लोग जान-बूझ कर ऐसी स्थिति पैदा करने की कोशिश करते हैं। ताज्जुब नही कि इस स्थिति से फ़ायदा उठा कर कुछ लोग कहने लगे हैं कि अश्लील जैसी कोई चीज़ नही होती। इस तरह के ख़तरे का संकेत तुलसीदास जी दे गए है :

हरिन भूमि तृण संकुलित, समुझि परै नहिं पंथ।
जिमि पाखंड विवाद ते, लुप्त होंहि सद् ग्रंथ॥

सो, सद्ग्रंथ लुप्त न हों, इसलिए पाखंड-विवाद के तृण संकुल को साफ़ कर लेना ज़रूरी है। फ़िलहाल, इतना ही हो जाए तो कम नहीं।

यह सही है कि आधुनिक युग में अनेक विद्रोही कलाकृतियों को अश्लील कह कर दबा देने की लगातार कोशिशें हुई हैं। ज्यादा नहीं सिर्फ़ सौ साल पहले 'मादाम बोवेरी' उपन्यास के लिए फ्रांस में फ्लाबेयर पर मुकदमा चलाया गया था। डी० एच० लारेंस का उपन्यास 'लेडी चैटरलीज़ लवर' अभी कल तक इंग्लैंड में कानूनन निषिद्ध था। सेंसर और मुकदमेबाज़ी के ऐसे उदाहरण दर्जनों की तादाद में गिनाए जा सकते हैं। साहित्य में ये रचनाएं श्रेष्ठ मानी गईं; लेकिन 'अश्लीलता' के आरोप में उन्हें कचहरी और प्रेस के संघर्षों से गुज़रना पड़ा।

इन रचनाओं का मुख्य अपराध दरअसल यह रहा है कि इन्होंने पूंजीवादी व्यवस्था के नैतिक ढोंग का उद्घाटन किया। ज़ाहिर है कि यदि कोई लेखक एक सत्तारूढ़ व्यवस्था को अश्लील कहेगा, तो वह व्यवस्था भी उसे अश्लील कहे बिना न मानेगी। जो व्यवस्था किसी राजनीतिक विद्रोही को भी 'चरित्रहीन' कहकर बदनाम कर सकती है, वह किसी नैतिक आक्रमण को कैसे माफ़ कर देगी? अश्लीलता या चरित्रहीनता पूंजीवादी व्यवस्था के तरकस का अमोघ अस्त्र है। ख़तरे के समय इसे इस्तेमाल करने में उसे तनिक भी हिचक नहीं होती। फिर तो कानून, धर्म, आचार, परम्परा आदि अनेक क्षेत्रों के सहायक तर्क इस्तेमाल होते हैं।

अश्लीलता के अभियोग से मुक्त होने के लिए लेखक उस सत्ता के विरुद्ध संघर्ष करते हुए भी प्रायः इस जाल में उलझ कर रह जाता है। सारी युक्तियां उसी दायरे के अन्दर ही किसी-न-किसी प्रकार सिमट कर रह जाती हैं। दुखद विडम्बना यही है।

मसलन, कुछ लेखकों का कहना है कि श्लील और अश्लील का प्रश्न साहित्य का प्रश्न है ही नहीं। इसे वे सामाजिक नैतिकता का प्रश्न मानना चाहते हैं। उनका ख़याल है कि इस तरह वे साहित्य को मुक्त कर लेंगे। लेकिन यह निष्फल पलायनवाद है। किसी समय कलावादियों ने भी सोचा था कि "कला के लिए कला" का नारा दे कर वे व्यवसाय के दूषित प्रभाव से कला को बचा लेंगे, लेकिन उनकी शुद्ध कला उस प्रभाव से कितनी बच सकी··· इसे आज सभी जानते हैं। दरअसल यह जाल ही ऐसा है कि "ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत त्यों-त्यों उरझ्यो जात।"

अश्लीलता के प्रश्न को साहित्य से हटा कर चाहे जिस शास्त्र के क्षेत्र में डालिए और इस तरह आप विषय पर विचार करने से चाहे जितना भागिए, लेकिन आक्रमकों के आरोप से बचना मुश्किल है। नैतिकता के संरक्षक बड़ी आसानी से कह सकते हैं कि साहित्यिक दृष्टि से रचना जैसी भी हो, नैतिक दृष्टि से तो वह सेंसर के अन्दर आती है क्योंकि पुस्तक के रूप में वह समाज में भी जाती है।

अश्लीलता के आरोप से बचने के लिए कुछ लेखकों ने प्रस्ताव किया है कि 'श्लील-अश्लील' को 'सुन्दर-असुन्दर' का प्रश्न बना कर साहित्य की मर्यादा में लाना चाहिए। उनका ख़याल है कि इस तरह उस प्रश्न का भी साहित्यिक संस्कार हो जाएगा और शायद विचार करने में सुविधा होगी। शब्द-परिवर्तन

और साहित्यिक संस्कार पर किसको आपत्ति होगी ? लेकिन खेद के साथ कहना पड़ता है कि इससे विचार करने में किसी प्रकार की विशेष सुविधा न होगी। सुन्दर-असुन्दर के निर्णय की समस्या इतनी आसान नहीं है। और क़ायदे से यह क्षेत्र भी सौन्दर्यशास्त्र का है। इस ज़मीन पर भी साहित्यकार निरापद नहीं हैं। बाल की खाल निकालने वाले एक से एक सौन्दर्यशास्त्री सन्नद्ध मिलेंगे। तर्कयुद्ध में साहित्यकार परेशान हो सकता है।

कुछ लेखकों की राय में "साहित्य में श्लीलता-अश्लीलता सुरुचि और संस्कृति का प्रश्न है, नैतिकता का नहीं।" यही सही। लेकिन सुरुचि और संस्कृति का प्रश्न तो और भी व्यापक अथक विवादास्पद है। दायरा बदल देने से प्रश्न नहीं बदल जाता और न कठिनाई ही कम होती है। प्रश्न चाहे 'श्लील-अश्लील' के रूप में हो, चाहे 'सुन्दर-असुन्दर' के रूप में या फिर 'सुरुचि और कुरुचि' के रूप में—निर्णय का वस्तुनिष्ठ सामाजिक आधार सर्वत्र रहेगा। इस ठोस वास्तविक आधार से लेखक का बच निकलना मुश्किल है। कल्याण इसी में है कि श्लील-अश्लील के दो भिन्न सामाजिक आधारों की सत्ता स्वीकार कर ली जाए।

परन्तु कुछ लेखक श्लील-अश्लील के सामाजिक आधार को स्वीकार करते हुए भी आज के अति प्रचलित 'सापेक्षतावाद' की शरण लेना श्रेयस्कर समझते हैं। वे यह मानते हैं कि "श्लील और अश्लील देश-काल पर आश्रित है" परन्तु इससे निष्कर्ष यह निकालते हैं कि "उनकी कोई शाश्वत और आत्यन्तिक परिभाषा नहीं हो सकती है।" खुलासा यह कि श्लील-अश्लील सम्बन्धी मान्यता देश और काल के अनुसार बदलती रही है इसलिए इसकी परिभाषा करना असम्भव है। ऊपर से देखने पर यह मान्यता अत्यन्त वैज्ञानिक और विवेकपूर्ण प्रतीत होती है, किन्तु इसके अन्तर्निहित निष्कर्ष अराजकता को प्रोत्साहन देते हैं। यही नहीं, इससे स्थापित मूल्यों का पक्ष भी मज़बूत होता है।

श्लील-अश्लील की सापेक्षता प्रमाणित करने के लिए नृतत्व विज्ञान की नवीनतम खोजों का भी हवाला दिया जाता है। विभिन्न आदिम जातियों की संस्कृतियों के अध्ययन से ये तथ्य सामने आए हैं कि एक जगह जिसे अश्लील माना जाता है वही दूसरी जगह के लिए श्लील है। लेकिन नृतत्व विज्ञान को भी ऐसी किसी जाति का पता नहीं है जिसमें अश्लीलता का मान एकदम ग़ायब हो। इससे सिर्फ़ इतना ही साबित होता है कि श्लील-अश्लील के मान भिन्न हैं, मानों की भिन्नता से मान्यता का अस्तित्व नहीं मिट जाता।

अश्लीलता की परिभाषा से बचने के लिए एक बारीक बात यह भी कही जाती है कि किसी 'विशेष मामले' मे तो अश्लीलता का निर्देश किया जा सकता है, किन्तु उसके लिए सामान्य नियम नही बनाया जा सकता । इस प्रकार के तर्क का स्रोत जी० ई० मूर की 'प्रिसिपिया एथिका' है । नि.सन्देह हर मामला विशिष्ट होता है लेकिन नियम के अभाव मे उसका निर्णय कैसे होगा ? कौन करेगा वह निर्णय ? नियम न होगा तो व्यक्ति विशेष होगा और वह व्यक्ति विशेष भी सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र ! यदि उसने मूर का अनुसरण किया तो अनिश्चय-वादी : स्वय अपने ही बारे मे अनिश्चित ! निर्णय क्या होगा , कहा नही जा सकता । यह तर्क है या अन्धे की लाठी ?

यद्यपि अब यह बात पुरानी पड गई है किन्तु अब भी कुछ लेखक कह बैठते है कि अश्लीलता का निर्णय करते समय लेखक के 'इरादे' का खयाल करना चाहिए। लेकिन इरादे का पता कैसे चले ? यह कार्य वही कर सकते है जो लेखक के दिमाग मे सेध लगाने मे सिद्ध है या किसी रचना की मनमानी व्याख्या करने मे कुशल ! वैसे, अवचेतन की खोज के बाद भी यदि कोई किसी के 'इरादे' की बात करता है तो उसे मासूम ही कहना चाहिए । ऐसा कहने वाले को क्या खुद अपने 'इरादे' का पता है ?

तमाम युक्तियो मे हारने के बाद महान लेखको की दुहाई दी जाती है । कहा जाता है कि अश्लील वर्णन तो व्यास, वाल्मीकी, कालिदास, शेक्सपियर तक मे मिलते है, फिर अश्लीलता का निर्णय कैसे किया जाए ? मतलब यह कि निर्णय मुश्किल है । निष्कर्ष यह कि निर्णय असम्भव है । लेकिन भवभूति, तुलसीदास, दान्ते, मिल्टन, गेटे, ताल्सताय, चेखव, गोर्की आदि जैसे भी तो महान लेखक है जिनमे अश्लीलता का लेशमात्र नही है और इस वजह से उनकी महानता मे कोई कमी आ गई हो····ऐसा भी नही है । सवाल यह है कि जो महान् है वे अश्लीलता के कारण या अश्लीलता के बावजूद ! अश्लीलता के लिए महान लेखको को क्षमा करना एक बात है और उनकी अश्लीलता का औचित्य प्रमाणित करना बिलकुल दूसरी बात ।

दरअसल इन तमाम तर्को की बुनियादी कमजोरी यह है कि ये मौजूदा व्यवस्था के नैतिक आधार पर खडे हो कर उसका विरोध करने की कोशिश करते है । उन्हे पता नही है कि जिस डाल को वे काट रहे है उसी पर वे स्वय बैठे हुए है । यदि बूर्जवा मनोवृत्ति की नैतिकता का उद्घाटन करते हुए कुछ लेखक स्वय उघड़ जाते है तो उनको ढकने के लिए विचारक भी अपने

परिधान से बाज़ आते हैं। इस आपसी संघर्ष में कौन कितना उघड़ जाएगा, कहना कठिन है।

वस्तुतः श्लील-अश्लील का प्रश्न मूलतः 'गोपनीयता' या 'प्राइवेसी' का प्रश्न है। सेक्स, यौन प्रसंग या स्त्री पुरुष सम्बन्ध से इसका सीधा सम्बन्ध नहीं है। ये बातें या तो आनुषंगिक हैं या परोक्षतः प्रभावित। शताब्दियों पहले संस्कृत आचार्य मम्मट ने 'ब्रीड़ा-जुगुप्सा' के रूप में अश्लीलता की परिभाषा दी थी। आधुनिक युग में अपने ढंग से विचार करते हुए डी० एच० लारेंस भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा था। अश्लीलता के सन्दर्भ में मम्मट ने 'कुमारसंभव' के सातवें सर्ग का उल्लेख नहीं किया है। वैसे, दोष प्रकरण में उन्होंने एक से एक शृंगारिक श्लोक उद्धृत किए हैं जिन्हें किसी अन्य मानदण्ड के अनुसार आसानी से अश्लील कहा जा सकता है, किन्तु मम्मट की दृष्टि में अश्लीलता का आधार केवल 'गोपनीयता' था। यह 'गोपनीयता' चाहे शब्द, पद और वाक्य के स्तर पर हो, चाहे अर्थ के स्तर पर। इस सन्दर्भ में मम्मट द्वारा परिगणित वे कुछ शब्द और क्रियाएं आज भी प्रासंगिक है।

प्रश्न यह है कि गोपनीयता का दायरा क्या है? जवाब मुश्किल नहीं है यदि हम 'पब्लिक' और 'प्राइवेट' अथवा 'सार्वजनिक' वैयक्तिक सम्बन्धी बुनियादी भेद को ध्यान में रखें। श्लील और अश्लील की सीमारेखा वही है जो सार्वजनिक और वैयक्तिक आचार की सीमारेखा है? सभ्यता के आरम्भ में ही यह विभाजन हो गया था और सभ्यता के अन्त तक यह विभाजन रहेगा। विज्ञान का विकास चाहे जितना हो जाए, सामाजिक समानता ही क्यों न क़ायम हो जाए, लेकिन सार्वजनिक और वैयक्तिक का भेद रहेगा और इसके साथ रहेगी श्लील-अश्लील के बीच एक सीमारेखा! मानव-व्यक्ति, व्यक्तिगत सम्पत्ति, एक पति-एक पत्नी सम्बन्धी तथा आचार की वैयक्तिकता या गोपनीयता —इन तमाम मान्यताओं का उदय एक साथ हुआ है और व्यक्तिगत सम्पत्ति के पूजीवादी रूप के अन्त के बाद भी किसी-न-किसी रूप में ये मान्यताएं हमेशा क़ायम रहेंगी। यही नहीं, व्यक्ति की सामाजिक स्वाधीनता के साथ इनका समुचित विकास होगा। व्यक्ति की यथोचित गोपनीयता की रक्षा की सम्भावनाएं दृढ़ होंगी।

स्नायुष और उन्नयन

एन० के० देवराज

बीसवीं सदी के जिन विचारकों ने हमारी जीवन-दृष्टि को गहरे रूप में प्रभावित किया है, उनमें सिगमण्ड फ्रायड का नाम अन्यतम है। फ्रायड ने अपना जीवन एक चिकित्सक के रूप में प्रारम्भ किया, बाद में वह एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का प्रवर्तक एवं प्रतिष्ठाता बन गया। फ्रायड के मनोविज्ञान को मानस-मनोविश्लेषण अथवा 'साइकोएनालिसिस' कहते हैं। फ्रायड के सिद्धान्त बड़े क्रान्तिकारी हैं, वे व्यापक भी हैं। फ्रायड का मनोविज्ञान मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या देने का प्रयत्न करता है। इस जीवन में व्यक्तिगत तथा सामाजिक सब प्रकार का व्यवहार समावेशित है। फ्रायड का सिद्धान्त कला-सृष्टि एवं कलाकार के मानस की प्रकृति पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है।

फ्रायड के कला अथवा कलाकार सम्बन्धी दृष्टिकोण को समझने के लिए यह ज़रूरी है कि हमें उसके सिद्धान्तों की सामान्य जानकारी हो। फ्रायड के मन्तव्यों का एक आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्त है। वह सिद्धान्त यह है कि हमारे सचेत जीवन की प्रत्येक गति, घटना या क्रिया सकारण होती है। हम स्वप्न देखते हैं अथवा बातचीत के सिलसिले में किसी का नाम भूल जाते हैं या कुछ का कुछ कह जाते हैं—इस सब का प्रचुर कारण होता है। हमारे चेतनामूलक जीवन में कुछ भी अकारण घटित नहीं होता। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम अपनी किसी क्रिया का हेतु नहीं बता पाते। एक सज्जन से आप खूब परिचित हैं, फिर भी आपको उनका नाम भूल जाता है। आप कहते हैं कि यह आकस्मिक बात है, संयोग है, स्मृति की

कमज़ोरी है, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। फ्रायड के अनुसार इन छोटी-छोटी दीखने वाली घटनाओं का कारण भी महत्त्वपूर्ण होता है। और ये छोटी-छोटी घटनाएं हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान तथा उपयोग रखती हैं। स्वप्नों के बारे में फ्रायड का विचार है कि वे हमारी प्रच्छन्न वासनाओं एवं इच्छाओं की पूर्ति का साधन होते हैं। भले ही किसी स्वप्न से यह बात साफ प्रकट न हो, किन्तु वस्तुतः प्रत्येक स्वप्न हमारी किसी अपूर्ण महत्त्वपूर्ण आकांक्षा या अभिलाषा से सम्बन्धित होता है।

अब हम फ्रायड के मन्तव्यों का व्यवस्थित रूप से सारांश देने की कोशिश करेंगे। फ्रायड यह मानता है कि हमारा मानसिक जीवन केवल सचेत जीवन तक सीमित नहीं है। हमारे मन की क्रियाएं ऐसी भी हो सकती हैं, जिनकी हमारे चेतन मस्तिष्क को खबर न हो। वस्तुतः हमारे मन या चित्त के अन्तर्गत अनेक तहें हैं। फ्रायड के अनुसार ये तीन तहें हैं—चेतन मन, उपचेतन और अवचेतन या अचेतन। सचेत मन की चीज़ें हमें स्पष्ट होती हैं, उपचेतन की स्थितियां थोड़े से प्रयत्न अथवा संकेत से चेतन मन में आ जाती हैं। अवचेतन की क्रियाएं प्रायः चेतन तक नहीं पहुंच पातीं और यदि पहुंचती भी हैं तो बड़ी कठिनाई से। मनोविश्लेषणवाद के अनुसार वे इच्छाएं या वासनाएं जिन्हें हमारा चेतन मन वर्जित या गर्हित समझता है नष्ट नहीं होतीं, वे अचेतन में जा कर लुप्त-सी हो जाती हैं। ये दमित वासनाएं ग्रन्थियों या गांठों (कम्प्लेक्सेज़) का रूप धारण कर लेती हैं और छिपे ढंग से हमारी जीवन-चर्या अथवा व्यवहार को प्रभावित करती हैं, हमसे कुछ का कुछ कहला देती हैं और हमारी नामों आदि की स्मृति को दबा देती हैं।

फ्रायड के अनुसार चित्त की इन तीन तहों के अतिरिक्त उसके तीन पहलू भी हैं। इन पहलुओं को उसने निम्न नाम दिए हैं—'इड', 'ईगो' तथा 'सुपर ईगो'। 'इड' हमारी मूल वासनाओं का अधिष्ठान है। ये वासनाएं अक्सर हमें समाज-विरोधी काम करने को उकसाती हैं। वे इसका ध्यान नहीं करतीं कि उनकी यथार्थ जगत की परिस्थितियों से अनुकूलता है अथवा नहीं। इसके विपरीत 'ईगो' बाह्य वास्तविकताओं का हिसाब रखने वाली शक्ति है। वह यथार्थ की सचेत अवगति का अधिष्ठान है। चित्त का तीसरा पहलू 'सुपर ईगो' है, जो अपने को भलाई-बुराई की चेतना अर्थात् सद्-असद् बुद्धि (कांशियेन्स) के रूप में अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार 'इड', 'ईगो' तथा 'सुपर ईगो' इन तीनों के बीच संघर्ष की स्थिति ही हमारे जीवन को तरह-तरह

की गति या प्रेरणा देती है। यह संघर्ष चेतन, उपचेतन अथवा अवचेतन तीनों में घटित हो सकता है। हमारा समस्त व्यवहार, हमारे सारे कर्म, उक्त संघर्ष द्वारा निर्धारित होते हैं। संघर्ष अथवा द्वन्द्व और उसका उच्छेद, चित्त की किसी भी तह में प्रवर्तित हो सकते हैं। यद्यपि ईगो का अधिकांश भाग चेतन है, किन्तु फिर भी उनकी सीमाओं में व्यतिक्रमण पाया जाता है। 'ईगो' का काफी अंश उपचेतन और अचेतन में पाया जाता है। इसी भांति 'सुपर ईगो' के अंश चेतन, उपचेतन और अचेतन सब में पाए जाते हैं। संघर्ष या द्वन्द्व की स्थिति में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न होता है कि संघर्ष का स्थान कहां है? संघर्ष या द्वन्द्व चेतन में घटित हो रहा है अथवा अचेतन या उपचेतन में।

द्वन्द्व का उच्छेदन व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। उच्छेद न होने पर व्यक्ति रोगी हो जाता है। ये रोग मानसिक होते हैं और स्नायु विकार (न्यूरोसिस) अथवा चित्त विकार (साइकोसिस) कहलाते हैं। इन विकारों के अनेक भेद, उपभेद तथा नाम हैं।

द्वन्द्व की स्थिति जब चेतन मन में होती है तो उसका उच्छेदन प्रायः दमन (रिप्रेशन) द्वारा होता है। जब द्वन्द्व अचेतन में होता है, तो उसका उच्छेदन अनेक तरीकों से होता है—जैसे रूप परिवर्तन (कनवर्शन), प्रतिक्रिया निर्मिति (रिएक्शन फार्मेशन), बौद्धिककरण (रैशनलाइज़ेशन) इत्यादि। इन्हीं उपायों में एक उन्नयन या (सब्लीमेशन) भी है।

रूप परिवर्तन, प्रतिक्रिया निर्मिति आदि तरीके सन्तोषप्रद नहीं हैं। वे व्यक्ति को अक्षम या अयोग्य बनाने वाले हैं। इसके विपरीत उन्नयन का तरीका सब दृष्टियों से उत्तम है। उन्नयन का अर्थ है दमित वासना को एक ऐसे लक्ष्य या विषय पर लगा देना, जो समाज के द्वारा वर्जित या गर्हित नहीं है। कवि तथा कलाकार अपने अन्तर्द्वन्द्वों के उच्छेदन के लिए इसी उपाय का आश्रय लेते हैं।

प्रतिभा अथवा प्रतिभाशालियों के सम्बन्ध में मनोविश्लेषणवाद के अपने सिद्धान्त हैं—जो अचेतन या उपचेतन के द्वन्द्व को समाज द्वारा ग्राह्य रूप में अभिव्यक्ति दे सकें। इस अभिव्यक्ति द्वारा द्वन्द्व की तीव्रता कम हो जाती है और उसका आंशिक उच्छेदन व निराकरण हो जाता है। प्रतिभाशाली का अचेतन अपेक्षाकृत अनावृत्त होता है। वह अपने अन्तर्द्वन्द्व को इस तरह प्रकट करता है कि दूसरे उसमें अपने द्वन्द्वों का प्रतिफलन देखें और आनन्दित हों। प्रतिभाशाली दूसरों के जीवन को समृद्ध बनाता है। कला सार्वभौम होती

है, क्योंकि अन्तर्द्वन्द्व सार्वभौम है। द्वन्द्व का कलात्मक चित्रण श्रोता या पाठक के अन्तर्द्वन्द्व को सचेत बनाता हुआ उसे मृदुल एवं सह्य बना देता है। इस प्रकार कला और साहित्य का अनुशीलन पाठकों के चित्त का प्रक्षालन या परिष्कार (कैथारसिस) करता है।

फ्रायड का मत है कि स्वप्न में हमारी वासनाओं की पूर्ति प्रच्छन्न रूप में होती है। स्वप्न देखने में जैसा जान पड़ता है, वैसा वास्तव में नहीं होता। स्वप्न में दीखने वाले रूप तथा पदार्थ वस्तुतः प्रतीक होते हैं, जो गूढ़ रूप से दूसरे तत्वों की ओर संकेत करते हैं। कला में भी यही होता है। कलाकार गूढ़ प्रतीकात्मक भाषा में चित्त की आन्तरिक वासनाओं एवं द्वन्द्वों को उपस्थित करता है।

फिर यह क्यों कहा जाता है कि ऊंची कला नैतिक होती है? इसका मतलब सिर्फ यही हो सकता है कि श्रेष्ठ कला वासनात्मक द्वन्द्वों का उन्नयन (सब्लीमेशन) करती है। वह उन्हें इस तरह प्रकट करती है कि समाज में आदर्श क्षत न हो। इस प्रकार श्रेष्ठ कला सुपर ईगो के सहायक या मित्र के रूप में व्यक्त होती है। वह अक्सर 'मौजूदा स्थिति' का समर्थन करती है और समाज के आदर्शों को प्रशस्त रूप में चित्रित करती है।

फिर भी मनोविश्लेषणवाद मानता है कि प्रतिभाशाली और स्नायु-विकार के रोगी में समानता होती है। वस्तुतः कलाकार अचेतन के द्वन्द्वों का ही उद्घाटन करता है। फ्रायडीय सिद्धान्तों के प्रसिद्ध व्याख्याता श्री जे० एफ० ब्राउन ने ऐसे प्रतिभाशालियों की लम्बी सूची दी है, जिनकी कृतियां मनोविश्लेषणवाद के सैद्धान्तिक ढांचे में ठीक-ठीक सन्निविष्ट हो जाती हैं। उदाहरण के लिए प्रसिद्ध यूनानी नाटककार एस्किलस की कृति 'इलेक्ट्रा' में, शेक्सपियर के 'हैमलेट' में मातृप्रेम अथवा माता सम्बन्धी भाव ग्रन्थि का कलात्मक उद्घाटन है। यही बात अनेक उपन्यासकारों की कृतियों के बारे में भी कही जा सकती है। यदि प्रतिभाशाली लेखकों तथा कलाकारों के जीवन पर दृष्टि डाली जाए तो पता लग सकता है कि उनमें से अनेक मदिरापान, अतिशय कामवृत्ति के शिकार थे। ब्राउन ने तो यहां तक कहा है कि कलाकार ही नहीं, न्यूटन तथा डार्विन जैसे वैज्ञानिक भी स्नायुविक विकारों से ग्रस्त पाए गए हैं। अनेक प्रतिभाशाली चिन्तक अपने जीवन के किसी न किसी काल में मानसिक अथवा चित्त सम्बन्धी व्याधियों के रोगी रहे हैं।

अब तक हमने फ्रायड के सिद्धान्तों का परिचय देने का प्रयत्न किया। अब हम उन पर आलोचनात्मक दृष्टि डालेंगे। फ्रायडवाद यह मानता है कि वे

अन्तर्द्वन्द्व, जो चित्त के विकारों को जन्म देते है, सभी स्त्री-पुरुषों में पाए जाते है। साधारण मनुष्य तथा प्रतिभाशाली में कोई जातिगत विषमता नही होती, उनमें अथवा उनके अन्तर्द्वन्द्वों में केवल तीव्रता या मात्रा का भेद रहता है। फ्रायड यह भी मानता है कि अन्तर्द्वन्द्वों का सम्बन्ध स्वयं व्यक्ति के जीवन-इतिहास से होता है। प्रश्न है कि क्या यह सिद्धान्त कलात्मक सृष्टि की परिपूर्ण व्याख्या कर सकता है?

हमारी समझ में इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक होना चाहिए। मनोविश्लेषणवादी भी मानते है कि प्रतिभाशाली द्वारा की गई द्वन्द्वों की अभिव्यक्ति कुछ विशेषताएं लिये रहती है, जिनके कारण वह दूसरों को मनोज्ञ एवं अर्थवती जान पड़ती है। इस मनोज्ञता एवं अर्थवत्ता के उपादान कलाकार को कहां से मिलते है? कलात्मक सृष्टि के क्षणों में रचयिता लगातार यह देखता चलता है कि उसकी रचना सुन्दर एवं ग्राह्य बन रही है अथवा नही। यह देखने की क्षमता कलाकार की मनोवृत्तियों के शिक्षण पर निर्भर करती है। मनोविश्लेषणवाद इस शिक्षण प्रतिक्रिया को कोई भी महत्त्व देता प्रतीत नहीं होता। कलाकार अतीत लेखकों अथवा महती कृतियों का अध्ययन करता है और उस अध्ययन से उन मानों की चेतना प्राप्त कर लेता है, जो उसकी रचना के संगठन एवं सौष्ठव का रूप स्थिर करते है। सक्षेप मे, श्रेष्ठ कलाकार वही बन सकता है जिसकी संवेदना और लेखन प्रक्रिया आवश्यक अनुशासन में से गुज़र चुकी है। दूसरे प्राचीन कलाकारों का अध्ययन करते हुए एक नया लेखक उनमे सिर्फ यही नही सीखता कि वह अपनी अनुभूतियों को कैसे सजाए या सगठित करे, वह उनसे नई अनुभूतिया भी पाता है। प्राचीन लेखक हमारी अनुभूति का विस्तार एवं अनुभव शक्ति का विकास करते है। इन अनुभूतियों को नवीन लेखक अपनी चेतना का भाग बना लेते है। मतलब यह कि लेखक या कलाकार की व्यक्तिगत चेतना ऐतिहासिक उपादानों से भी गठित होती है, वह केवल उसके व्यक्तिगत इतिहास का कार्य नही होती।

फ्रायड का सिद्धान्त यह मानता प्रतीत होता है कि कलाकार लगातार अपनी अनुभूतियों को प्रच्छन्न प्रतीकों द्वारा रूपान्तरित करके प्रकट करता है और यह कि उसकी मूल अनुभूतियां सामाजिक दृष्टि से अग्राह्य होती हैं। इस अतिवादी सिद्धान्त को स्वीकार करना आवश्यक नही। कोई कारण नहीं कि दूसरे बड़े लेखकों एवं विचारकों के सम्पर्क से नए कलाकार का अन्तर्मन ही परिष्कृत एवं शुद्ध न बन जाए। यह भी नही कि कलाकार लगातार अपनी

आन्तरिक अनुभूतियों को छिपाने का ही प्रयत्न करता हो। जिसे हम शृंगार काव्य कहते हैं, उसमें मनुष्य की काम-भावना से सम्बद्ध सैकड़ों वृत्तियां काफी स्पष्ट अभिव्यक्ति पाती रही हैं। अतएव यह मानना ज़रूरी नहीं है कि कलात्मक अनुभूति सदैव अपरिष्कृत भावनाओं का उन्नयन रूप होती है। इसके विपरीत परिष्कृत एवं भव्य भावनाएं भी मानव जीवन का सहज एवं स्वाभाविक अंग हैं। यही नहीं, शृंगार आदि के अन्तर्गत भी कलाकार की भावनाएं स्वतः सुसंस्कृत एवं सुन्दर हो सकती हैं। सौन्दर्य चेतना अथवा सौन्दर्य की खोज स्वयं जीवन का अंग है।

वर्धमान और पतनशील

विजयदेव नारायण साही

दर्शन जिस प्रश्न को इस रूप मे पूछता है—"सत्य क्या है ?" साहित्य उसी प्रश्न को इस ढंग से पूछता है—"मनुष्य क्या है ?" आखिरकार दोनों प्रश्न एक ही है, इसीलिए अक्सर बहुत गम्भीर अर्थ में दोनों की सीमारेखाएं एक-दूसरे को छूने लगती हैं। यह सही है कि ये दोनों आरम्भ दो सिरों से करते हैं, लेकिन कभी-कभी यह भी लगता है कि ये दो सिरे नहीं है, एक प्रश्न के दो पहलू भी नहीं है—वस्तुतः एक ही प्रश्न है। दार्शनिक अक्सर यह पूछने लगते है—"मनुष्य क्या है ?" और कवि पूछने लगते है—"सत्य क्या है ?"

माना यह जाता है कि साहित्य का सम्बन्ध हमसे-आपसे, जो साधारण जन है, उनसे है। जो दार्शनिक है वे बहुत बारीक ऊंचाइयों पर बाल की खाल निकालते है और ऐसे ग्रन्थ लिखते है जो लोगों की समझ में नहीं आते। लेकिन इसके लिए दार्शनिकों से कोई शिकायत नही करता। प्रथा यही है कि उन्हे उन ऊंचाइयों पर साधारण जन बिना वजह तंग नही करते। यों ऐसा भी होता है कि जब दार्शनिक लोग "मनुष्य क्या है", इस पर विचार करने लगते है तो उनकी बातें जानना हमारे-आपके लिए बहुत ज़रूरी समझा जाने लगता है। तब हम कोई दार्शनिक किताब, जैसे गीता, ले लेते है और कहते है कि इसका पढ़ना सबके लिए ज़रूरी है। और 'गीता' मे ऐसी भी बाते है जो हर आदमी कुछ-न-कुछ अपने ढंग से समझ ही लेता है। चूंकि साहित्यकार दार्शनिक से ज्यादा परिचित किस्म का आदमी है, इसलिए जहां उसने कुछ ऐसी बातें कहनी

शुरू कीं जो साधारण जन को कठिन मालूम पड़ने लगीं, उससे फ़ौरन शिकायत होने लगती है। लेकिन जैसा हमने कहा, कभी-कभी साहित्यकार भी "सत्य क्या है", जब इस प्रश्न में उलझने लगता है तो उसकी भाषा अटपटी होने लगती है, और वह जो कुछ भी कहता है वह लगता है कि दिमाग़ के ऊपर-ही-ऊपर से निकल गया। ऐसा साहित्यकार 'लोकप्रिय' इस अर्थ में नहीं होता कि लोग उसकी किताबें अधिक-से-अधिक पढ़ें। लेकिन उसी के साथ हम यह भी देखते हैं कि जो दार्शनिक तो नहीं, लेकिन दार्शनिकों की तरह के सवालों में उलझने वाले लोग हैं अर्थात् बौद्धिक, उनमें इस तरह के साहित्यकार को ले कर बहुत चर्चा होती है। इस तरह के लोग आजकल के समाज में विचारक वर्ग या बौद्धिक वर्ग कर के जाने जाते हैं। इस तरह की उधेड़-बुन करने वाले लोग ऊपर से तो बिलकुल निठल्ले लगते हैं, और सचमुच निठल्ले होते भी हैं, लेकिन वे समाज का एक ज़रूरी काम भी पूरा करते हैं।

लोकप्रियता साहित्यिक मीमारेखा के बढ़ने या पतनशील होने की कसौटी नहीं है, यह तो स्पष्ट ही है। तब हम इस सीमारेखा को किस तरह से देखें?

बात यह है कि आज हम "सत्य क्या है", इसका उत्तर दो तरह से देते हैं। एक तो यह कि इस प्रश्न का कोई सही और सटीक जवाब नहीं है। हर जवाब अधूरा ही होता है। इस ढंग से तो हम कह सकते हैं कि यह सवाल ही फ़िज़ूल है। दूसरे यह कि अधूरा ही सही, इस सवाल का उत्तर मिलना बहुत ज़रूरी है, नहीं तो हमारा कारोबार बिलकुल विध्वंस हो जाएगा। इस ढंग से न सिर्फ यह आवश्यक है कि यह सवाल बार-बार पूछा जाए बल्कि यह भी कि इसका बार-बार उत्तर दिया जाए। सभ्यता के आदिकाल से लोगों ने अपने मन, वाणी और कर्म के द्वारा इस सवाल का जवाब दिया है। वे जवाब अक्सर एक दूसरे के विरुद्ध भी रहे हैं।

साधारण से साधारण आदमी "मनुष्य क्या है", इसका उत्तर देने का दावा करता है। यद्यपि "सत्य क्या है", इसमें लोगों की दिलचस्पी कम होती है। इसीलिए साहित्य दर्शन से अधिक लोगों के मर्म के निकट होता है। कहा जा सकता है कि साहित्य, जिसका काम आदमी की अनुभूतियों की सीधी तस्वीर उतारना है--इस दार्शनिक उलझाव में पड़े ही क्यों? साधारण आदमी "सत्य क्या है", इस उलझाव में बिना पड़े ही अपना काम चला लेता है।

मेरे एक मित्र का कहना है कि दार्शनिक लोग बिना वजह सामने दीवार देख कर इस उलझन में पड़े रहते हैं कि दीवार है या नहीं। इसका सीधा

जवाब यह है कि दीवार से उनका सिर टकरा दिया जाए, वे खुद ही समझ जाएंगे कि सत्य क्या है। मेरे मित्र का कहना ठीक है क्योंकि उनका सिर कभी दीवार से टकराया नहीं, या टकराया भी तो बहुत धीरे से। लेकिन कभी ऐसा भी होता है कि दीवार पर सिर बहुत ज़ोर से टकरा जाए। उस समय लगता है कि सिर्फ मैं हूं, और दर्द है। दीवार का ज्ञान नहीं होता। ऐसा भी हो सकता है कि सिर्फ दर्द का एहसास हो, मैं का भी विसर्जन हो जाए। और यह भी होता है कि न मैं रहूं, न दर्द का एहसास हो और न दीवार का ही ज्ञान हो। बात यह है कि दीवार से सिर तो सभी टकराते हैं, चोट कैसे लगती है ?

यथार्थ की चोट फूलों जैसी भी होती है, और चट्टान जैसी भी। जब साहित्यकार या साहित्य को यह चोट कारी लग जाती है तो वह पूछने को मजबूर हो जाता है कि "सत्य क्या है ?" बेशक अनुभूतियों की तस्वीर वह तब भी खींचता है लेकिन वह तस्वीर तिरछी होने लगती है—दूसरी तस्वीरों से भिन्न। हर युग अलग-अलग ढंग से दुनिया की इस यथार्थ की दीवार से टकराता है, और उसकी अनुभूति भी भिन्न होती है। इस दीवार में कितनी स्निग्धता है, कितनी चोट है—इसके भिन्न-भिन्न तजुर्बे हम तलाश करते हैं। साहित्य ही क्यों, सम्पूर्ण जीवन की सीमारेखाएं इसी अर्थ में बढ़ती हैं कि यथार्थ की इन चोटों की बदलती हुई अनुभूति से—दीवार नाम का यह जो सत्य है उसे हम ज्यादा बखूबी जान सकें। जब साहित्य या साहित्यकार सिर्फ एक ही तरह के आघात आपको देने लगे, और धीरे-धीरे आप भूलने लगें कि चोट और हल्की या और कारी लग सकती है तो आप समझ सकते हैं कि साहित्य की सीमारेखाएं वर्धमान नहीं, पतनशील हो रही हैं।

इसी को एक दूसरी तरह भी समझा जा सकता है। कहते हैं कि जिन लोगों को दिन-रात कविता का ही ख़ब्त होता है वे किसी काम के नहीं रह जाते। कवि लोग अव्यावहारिक और अकर्मण्य हो जाते हैं। इस उक्ति में बहुत कुछ सच्चाई भी है। कई कवियों को तो मैंने इस आरोप का इतना मलाल देखा है कि वे ज़रूरत से ज्यादा कर्मठता के प्रदर्शन में लगे रहते हैं। लेकिन यह भी सच है कि जो लोग सिर्फ व्यावहारिक या कर्मठ होते हैं वे क्रूर और स्वार्थी हो जाते हैं। इसका कारण क्या है ? ग़ौर से देखने पर आपको मालूम होगा कि इसकी तह में वही "मनुष्य क्या है" वाला सवाल है, जिसका उत्तर देने की कोशिश साहित्य करता है।

आपने पुरानी उक्ति 'वसुधैव कुटुम्बकं' सुनी होगी। आदमी को अकर्मण्य बनाने वाली इससे ज्यादा खतरनाक उक्ति कोई नहीं हो सकती। जिसने इस उक्ति को अच्छी तरह आत्मसात् कर लिया, उसके हाथ-पांव फूलने लगते हैं और वह कर्म से छुटकारा पाने की कोशिश करने लगता है। वजह यह है कि हमारा हर कर्म किसी-न-किसी के विरुद्ध पड़ता है। हम चाहें या न चाहे। जब सभी कुटुम्बी हैं, तब फिर विरोध क्यों? यही आदमी को पंगु बना देता है। 'गीता' में अर्जुन के साथ यही हुआ था। कुरुक्षेत्र मे जब अर्जुन ने कौरवों को देखा और उसे भान हुआ कि ये सब कुटुम्बी है तो वह अकर्मण्य हो गया। कृष्ण ने पूरी 'गीता' इसलिए कही कि अर्जुन के मन में कुटुम्ब की यह भावना बनी भी रहे, और कर्म भर के लिए निकल भी जाए। उन्हें यह कहना पड़ा कि जिन्हें तुम मारने जा रहे हो, उन्हे पहले से ही मरा हुआ समझ कर मारो, तब तुम्हे यह दुःख नहीं महसूस होगा।

कृष्ण ने कर्म का सिद्धान्त तो ठीक बताया, लेकिन इसका खतरा स्पष्ट है। हमारे कर्म, चाहे वे छोटे-से-छोटे हों, या बड़े-से-बड़े—अभ्यस्त हो जाने पर हमारे मन में धारणा बनाते चलते है कि जिनके विरुद्ध हम काम कर रहे हैं वह लोग मनुष्य की एक ऐसी हीन या अन्य परिभाषा में आते है, जो हमारे कुटुम्ब के मनुष्यों की परिभाषा के बाहर हैं। यह हमारा कुटुम्ब—हमारे परिवार, हमारे वर्ग, हमारे देश··· या हमारी किसी कल्पित-अकल्पित सीमाओं के बराबर रहता है। उससे बाहर के मनुष्य को हम व्यक्ति रूप में नहीं पहचानते, हमारी कल्पना में वह केवल एक समूह होता है, बिलकुल जड़ नहीं तो हमारी तरह चेतन भी नहीं। इसी तरह हम मानवीय भावनाओं के भी अभ्यस्त हो जाते हैं। यह अभ्यास कर्म-परिपाटी के कारण ही पड़ता है। साधारण मनुष्य, जो सिर्फ व्यावहारिक है, इसीलिए कर्मठ और क्रूर होता है क्योंकि उसे, अपनी भावनाओं से अलग भी मानवीय भावनाएं हो सकती हैं, अपनी परिभाषा से अलग भी मनुष्य की परिभाषा हो सकती है, इसका ज्ञान ही नहीं होता।

साहित्य का विस्तृत अध्ययन आदमी की आंख खोलता है। कभी-कभी हमको ऐसा अभ्यास होता है कि जिस कर्म को हमने बहुत न्याय और सत्य का साक्षी देकर किया था, उसके कारण जिनकी हानि हुई वे सचमुच में मनुष्य थे, और उनके मन में भी न्याय और सत्य की वैसी ही धारणाएं थीं। तब हम तिलमिला जाते है—लेकिन जाने-अनजाने मनुष्य की परिभाषा हमारे लिए

बढ़ जाती है। जब-जब हम मनुष्य की परिभाषा बढ़ाते हैं, हमारा कुटुम्ब विस्तृत होता जाता है। साहित्य का एक बहुत जरूरी काम यह है कि मनुष्य और उसकी अनुभूतियों की इस परिपाटिग्रस्त परिभाषा को बराबर विस्तृत करता चले। हो सकता है, इससे हमारी कर्मठता में तत्काल कमी आती दिखलाई पड़े, लेकिन जो जीवित है, चेतन है, दर्द और खुशी हमारी ही तरह महसूस कर सकता है, उसके जीवन, उसकी चेतना, दर्द और खुशी की ओर से सुन्न होने के अपराध से हम बचे रहेंगे। फिर हम कर्म करेंगे भी तो शायद बिलकुल निर्मम और क्रूर हो कर नहीं।

प्रकाशन-विभाग,
सूचना और प्रसारण-मन्त्रालय,
भारत-सरकार ।